अंक 6

ISSN 0975-5217
वर्ष 2012

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2012 अंक 6)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2012, अंक : 6

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

*** संगीत-नाटक अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा अनुदानित**

मुद्रक

विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स

1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

एसोसिएट प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि.,

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सुखदा पांडेय
Sukhada Pandey

मंत्री
कला, संस्कृति एवं युवा विभाग,
बिहार
Minister
Deptt. of Art, Culture & Youth
Bihar.

Ref. No./ पत्रांक .....

Date/ दिनांक 10-12-2012

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकार अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा द्वारा "अर्द्धवार्षिक शोध" नामक पत्रिका के छठे अंक के प्रकाशन का निर्णय लिया गया है, जो प्रशंसनीय है।

इस पत्रिका के प्रकाशन के निर्णय से स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग के छात्र/छात्राओं को लेखन का सुअवसर प्राप्त होगा और विश्वविद्यालय में संगीत एवं नाटक के विकास में भी मदद मिलेगी।

मैं इस पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करती हूँ और इसके प्रकाशन से जुड़े सभी सदस्यों को हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करती हूँ।

सुखदा पांडेय

(सुखदा पांडेय)

कार्यालय : विकास भवन, नया सचिवालय, पटना - 800 001 आवास: 24/10,बेली रोड, पटना
मोबाइल : +91 9431021652, टेलि-फैक्स: 0612 2215688 (का.) 0612-2539809 (आ.)
E-mail: sukhadapandey@yahoo.com

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा - 846004 (बिहार)

डा० समरेन्द्र प्रताप सिंह

कुलपति

दूरभाष और फैक्स- 06272- { 222463 (O) / 222598 (R)

मो० : 9431219347

ई-मेल—vclnmu@G mail.com.

पत्रांक ..... दिनांक .....

शुभकामना संदेश

यह अत्यंत प्रसन्नता की बात है कि स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग ने विभागीय स्तर पर शोध पत्रिका प्रकाशन हेतु मिथिलांचल संगीत परिषद का गठन किया है एवं इसके द्वारा शोध पत्रिका " भैरवी " के छठे अंक का प्रकाशन किया जा रहा है।

पत्रिका प्रकाशन से संगीत एवं नाटक के चतुर्दिक विकास में मदद मिलेगी एवं आशा करता हूँ कि यह स्मारिका विश्वविद्यालय का ऐसा दर्पण हो, जिसमे यहाँ की शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं अन्य सभी गतिविधियों का दिग्दर्शन हो सके। इस विश्वास के साथ उक्त पत्रिका के प्रकाशन हेतु अपनी शुभकामना व्यक्त करता हूँ।

साथ ही तनावग्रस्त जीवन में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका को उजागर करने के लिए संपादक के द्वारा किये गए इस प्रयास की सराहना करता हूँ। उन्हे आगे भी इस क्षेत्र में सभी संभव प्रयत्न करने हेतु आशीर्वाद देता हूँ तथा उनकी सफलता की कामना करता हूँ।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित,

विश्वासभाजन,

(डॉ समरेन्द्र प्रताप सिंह)
कुलपति

हैलेन आचार्य
सचिव

संगीत नाटक अकादेमी
Sangeet Natak Akademi
RABINDRA BHAVAN, FEROZE SHAH ROAD, NEW DELHI-110 001
Tel. 91-11-23387246, 23387247, 23387248, 23382495
Fax : 91-11-23382659, 23385715 Gram : NATAKADEMI
E-mail : mail@sangeetnatak.gov.in
Website:http://www.sangeetnatak.gov.in

फाइल नं. 16-1/2012-13/13408

13 दिसम्बर, 2012

शुभकामना संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मिथिलांचल संगीत परिषद् द्वारा अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका के छठे अंक का प्रकाशन किया जा रहा है। आशा है कि संगीत विद्वानों एवं अनुसंधित्सुओं के आलेखों से सम्पन्न यह पत्रिका संगीत के ज्ञान से विद्या जगत को लाभान्वित करेगी।

पत्रिका के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

(हैलेन आचार्य)

डॉ. पुष्पम नारायण
एसोसियेट प्रोफेसर एवं संपादिका
भैरवी संगीत शोध पत्रिका
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा (बिहार)

बिहार का लोकनृत्य-झिझिया

बिहार का लोकनृत्य-सामा चकेवा

संपादक की कलम से ...

स्वरयोग का अभ्यास वस्तुतः एक साधना है, जिसका अवलम्ब लेकर मनुष्य अपने भीतर के 'सुन्दर' को ही नहीं 'शिव' और 'सत्य' को भी उल्लसित कर सकता है, और उस आंतरिक तृष्णा की तृप्ति कर सकता है, जिसकी लालसा से उसे विविध विधि कामनाएं और प्रवृतियां अपनानी पड़ती है। संगीत के योगसूत्र में यही स्पष्ट किया गया है कि योग साधना के अनेक प्रकारों में नादयोग की स्वरसाधना का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

गीता में भगवान ने अपने को वेदों में सामवेद बताया है–

'वेदानां सामवेदोऽस्मि।'

सामवेद में भी संगीत ही है पर उसमें पवित्र उद्देश्य और आदर्शों का समावेश है इसलिए उस स्वर लहरी को वन्दनीय और उपयोगी कहा गया है–

सामवेदः स्मृतः प्रित्र्य स्तस्यात् तस्याशुचिर्ध्वनिः।

मनु0 4।124

रूद्रः साम्मयोऽन्तेच तस्यात्तस्याशुचिर्ध्वनिः।

मार्कण्डेय पुराण 102।109

चिरअतीत में मनीषियो ने उसका विकास, विस्तार इस दृष्टि से किया था। लय और ताल का समन्वय करके वाद्य यंत्रों को नहीं- अंतरंगों की स्वरवीणा को झंकृत करने का उपक्रम किया गया था। संगीत किसी समय भगवदोपासना का ही एक माध्यम था। सुनाने वालों में वह आत्मोल्लास जगाता था और उसे कुत्सा से उंचा उठाकर 'भूमा' में प्रतिष्ठित करता था। अपनी इसी विशेषता के कारण वह लोकश्रद्धा का माध्यम रहा। संतों ने उसे प्राणप्रिया माना और उसके सहारे लक्ष्य पूर्ति की दिशा में सफल प्रयाण किया। इसमें इनका ही नहीं वरन् सुनने वालों का भी आत्मोकर्ष जुड़ा हुआ रहता था। सामगान के दिव्यदर्शियों से लेकर देवर्षि नारद तक और अन्ततः वह पवित्र धारा अनेक सन्त साधकों में प्रवाहित होती हुई हरिदास एवं तानसेन तक चली आई। यह प्रवाह यथाक्रम चलता रहता और अपना स्तर यथा स्थान बनाये रखता तो उससे भावनात्मक महानता की स्थिति उत्कृष्ट स्थिति में ही बनी रहती।

दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि पतन के सर्वभक्षी आक्रमण से संगीत भी बच नहीं सका। वह योगाभ्यास से नीचे उतरा और कला बना। इससे भी नीचे गिरा तो नटविद्या मात्र बनकर रह गया। आज वह इसी दयनीय दुर्दशा की स्थिति में पड़ा है।

संगीत को कला इसलिए बनना पड़ा कि वह लोकरूचि के पीछे चलकर आजीविका और प्रशंसा का माध्यम बन सके। यहां तक भी गनीमत थी। अन्य व्यवसायों की तरह ही संगीत भी किन्हीं पेशेवरों का पेशा रहे तो उन्हें व्यावहारिक जीवन की एक आवश्यकता मानकर गायक वादकों को साधक तो नहीं पर श्रमजीवी कहा जा सकता था। दुःखद स्थिति तब उत्पन्न हुई जब वह साधना को दूर कला भी न रही और कुत्साओं के हाथ का खिलौना बनकर व्यसनी और व्यभिचारियों की तुष्टि-पुष्टि के काम आनेवाला एक नशा

भर बनकर रह गया। सामन्तों और अमीरों की पशु प्रवृति को अधिकाधिक उत्तेजित करने और उनके 'पशु' को अधिकाधिक उग्र बनने भर के लिए जब उसने अपनी आत्मा को बेच दिया तो उस 'तत्वदर्शी की आत्मा बिलख-बिलख कर रोई होगी जिसने स्वर विज्ञान द्वारा नर को नारायण बनाने के सपने देखे होंगे।

मध्यकाल में संगीत अमीरों और बादशाहों का कृतदास था, उसे उन्हीं के यहां आश्रय मिलता था। जनता की कुरूचि के बीच भी उसे स्थान मिला। इससे संगीत को धन और सुविधा तो मिली-सस्ती वाहवाही भी हाथ लगी पर इसके लिए उसे महंगा मूल्य चुकाना पड़ा।

अपने समाज में भगवद् भक्ति का भावोद्दीपक मनुष्य के देवत्व के जागरण का अविछिन्न अवलम्बन माना जाता रहा है। तदनुसार सन्तों, ब्राह्मणों, मनीषियों धर्मोपदेर्शकों को भूसुर कहकर उनकी चरण धूलि मस्तक पर चढ़ाने की परम्परा रही है। संगीतकार इसी पंक्ति में बैठता था उसकी गणना इसी वर्ग में की जाती थी। स्वर साधक को योग साधकों के बीच ही माना जाता धा। उसे वैसी ही श्रद्धा प्रदान की जाती थी। परंतु इन दिनों कामुकता भड़काने वाली दुष्प्रवृति का ही दूसरा नाम संगीत बन गया है।

संगीत अपने मूल उद्देश्य को पूरा कर सके, अपने सनातन स्वरूप को स्थिर रख सके इसके लिए हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए और उसे सदुद्देश्य के लिए प्रयुक्त होने देना चाहिए। स्मरण रखा जाना चाहिए कि संगीत की उपयोगिता तभी है जब उसे उच्च उद्देश्य के लिए प्रयुक्त किया जाए। कलाएं दुधारी तलवारें हैं यदि उन्हें पशु प्रवृतियां भड़काने के लिए काम में लाया जाए तो वे घातक भी कम सिद्ध नहीं होती।

संगीत के संदर्भ में महापुरूषों के वाक्य से हमें प्रेरणा लेनी चाहिए।

संगीत से आत्मा की मलीनता धुलती है। - आवेर वेच
गहराई में उतरो तुम्हें हर पदार्थ के अंतरंग में एक दिव्य संगीत उभरता दिखाई देगा
- कार्लाईल
संगीत आत्मा के ताप को शान्त कर सकता है - महात्मा गांधी
संगीत में क्रूर हृदय को भी कोमल बनाने वाला जादू भरा पड़ा है। - जेम्स वाटसन
संगीत मानव की विश्व भाषा है। - लांग फैलो
संगीत टूटे हुए हृदय की औषधि है। - ए. हन्ट
संसार मुझसे चित्रों में बात करता है। मेरी आत्मा उसका उत्तर संगीत में देती है।
- रवीन्द्रनाथ टैगोर

'भैरवी' संगीत शोध पत्रिका का षष्ठ सोपान अब आपके हाथ में है। संपादन क्रम में अमित, धैर्य और दृढ़संकल्प का अवलंब लेकर इस शोध पत्रिका को शास्त्र सम्मत, तर्कसंगत और मर्यादापूर्ण बनाने की यथासाध्य चेष्टा की गई है। मुद्रण संबंधी कठिनाईयों के कारण कभी-कभी अनेक त्रुटियां रह जाती है, प्रबुद्ध पाठकों से इस हेतु क्षमा चाहती हूं।

—डॉ॰ पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		9
1.	श्रुति-मौखिक-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में संगीत शिक्षा का अवलोकन	डॉ. अरविन्द कुमार	13
2.	ऋषभ स्वर का महत्व (हिन्दुस्तानी संगीत के रागों में स्थान एवं विविध प्रयोग की दृष्टि में)	डॉ. रामशंकर	17
3.	राग भैरव का स्वरुपगत अध्ययन	प्रो. कंवर इकबाल सिंह	21
4.	भैरव थाट एवं भैरव अंग के राग (विभास एवं अहीर भैरव)	नूतन कुमारी	25
5.	अख्तरी बाई से बेगम अख्तर तक का सफरनामा	डॉ. पुष्पम नारायण	27
6.	भारतीय संगीत के सफर के सौ वर्ष	अल्पना	33
7.	शास्त्रीय एवं सुगम संगीत के एकत्व बिन्दु	डॉ. मंगला कपूर	38
8.	शास्त्रीय संगीत के अभ्यासकों को आनेवाली कठिनाईयाँ तथा चुनौतियाँ	डॉ. अनया थत्ते	40
9.	"ललित कला के विविध आयामों में संगीत का स्थान सर्वश्रेष्ठ"	डॉ. किरण सिंह	44
10.	मानव शरीर पर रागजनित तत्वों के प्रभाव	डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे	47
11.	आज की शिक्षानीति और संगीत	डॉ. अश्विनी कुमार सिंह	51
12.	अवसादग्रस्त दृष्टिबाधितों के उपचार में संगीत एक सशक्त माध्यम	श्रीमती गुड्डी पाल	53
13.	बदलता सामाजिक परिवेश एवं संगीत	डॉ. पुष्पवाणी	56
14.	रागमाला चित्र परम्पराओं के प्रतिबिम्ब	संगीता सिंह	60
15.	गीत-संगीत के महान कलाकार विद्यापति	डॉ. चन्द्रनाथ मिश्र	64
16.	मैथिली, भोजपुरी, मगही एवं संथाली लोकगीत :- एक तुलनात्मक व्याख्या	डॉ. ममता रानी ठाकुर	67
17.	मिथिला की गोदना चित्रकला में लोक-चेतना	डॉ. पुष्पम नारायण	72
18.	मानव का शरीर तंत्र एवं संगीत का चिकित्सकीय प्रभाव	डॉ. अर्चना वर्मा	78
19.	सूरदास के भक्तिपद में संगीत	कुमारी आभा	83
20.	मानव शरीर एवं मस्तिष्क पर संगीत का प्रभाव	प्रतिमा गुप्ता	86
21.	विभिन्न ध्वनियों में सांगीतिक ध्वनि : चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में	संदीप कुमार ओझा	88
22.	संगीत और समाज का अन्तर्सम्बन्ध	मधु कुमारी	93
23.	लोकसंगीत में लोकवाद्य की महत्ता	संजीव कुमार	96

24.	रसानुभूति में काकु का स्थान	नवीन शर्मा	99
25.	रवीन्द्र संगीत में बंगाल के लोक संगीत का प्रभाव	निशा बेगम	101
26.	कला, ललित कला व संगीत	शिखा भृगुवंशी	104
27.	महाकाव्य काल में वाद्यों का विकास	अनुराधा सिंह	106
28.	संगीत का अंतर अनुशासनात्मक संबंध	राकेश कुमार	109
29.	अंगिका लोकगीतों में श्रृंगार	आरती	114
30.	मोदलता विवाह पदावली : संस्कार गीत का पिटारा	बिजली कुमारी	116
31.	संगीत का व्यक्ति पर प्रभाव	जूही कुमारी	120
32.	मिथिला में पारंपरिक मधुरोपासना : संगीतपरक दृष्टि	फणीश कुमार	123
33.	भक्ति संगीत की कुंजी-रामचरित मानस	पुनीता कुमारी	126
24.	संगीत सर्वोच्च कला	डॉ. पुष्पवाणी	128
25.	समस्तीपुर की संगीत कला साधना इतिहास के आइने में	सुमन सौरभ	130
26.	अद्‌भुत सितार शिल्पी पंडित निखिल बनर्जी	सतनाम सिंह	133
27.	हिन्दी भक्तिपरक कृष्ण काव्य और संगीत	गरिमा गुप्ता	136
28.	ब्रज का रासमंच और अभिनय	प्रियंका	138
29.	Dance as a therapy for meeting cure of Various physical disorders	Smt. Smita N. Sathe	141
30.	Ten Pranas of Taal	Dr. Abhishek Tushar	147
31.	Music Education in North India	Santosh Kumar	150
32.	Basis of Sangeet on Disease - Treatment	Pandit Ishwarchandra	154

श्रुति-मौखिक-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में संगीत शिक्षा का अवलोकन

- डॉ.अरविन्द कुमार

श्रुति संस्कृत के 'श्रु' धातु से निष्पन्न शब्द है, जिसका अर्थ है सुनना। अतः श्रुति शब्द का अर्थ है सुना हुआ।[1] गुरु परम्परयाक्रनुश्रुयते इत्यानुश्रविकाः अर्थात् गुरु परम्परा से ही जो जाना हुआ है उसी को श्रुति कहते हैं।[2] भारत ही नहीं विश्व का प्राचीनतम उपागम श्रुत-मुख, श्रव्य-दृष्ट का कथन-संवादन की परम्परा ही अद्यावधि रूप में विद्यालयों, शिक्षा-केन्द्रों में प्रचलित है। सर्वतः स्वीकृत है कि लेखन कला का उद्भव एवं विकास मानव की प्राविधिक मेधा के विकास क्रम में हुआ। सम्पूर्ण विश्व में लिखित शब्द के पूर्व मौखिक-श्रुत शब्द ही चिन्तन एवं सम्प्रेषण का माध्यम था। इस माध्यम की श्रुत-श्रुति = मौखिक परम्परा कही जाती है। श्रुत-मौखिक परम्परा का सम्बन्ध मानव की उत्पत्ति काल से ही है। भारतीय वाक्-विज्ञान इसे स्वीकारता है, जिसका प्रतीकत्व ऋग्वेदादि के 'श्रुति' अभिधान में व्यक्त है।

श्रुति शब्द को 'वेद' का पर्यायवाची माना जाता है। प्राचीन काल में ही ''श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः'' कहा गया है। वेद का मौखिक श्रवणन कर अध्ययन किया जाता था। वेद का 'अनुश्रव' नाम भी श्रुतिमूलक ही है। 'आनुश्राविक' पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है, ''गुरुमुखादनुश्रुयते इत्यनुश्रवो वेदः''[3] अर्थात् गुरु-मुख से सुने जाने के कारण वेद 'अनुश्रव' हुआ। आज भी लोक में 'गुरु मुख' होने की परम्परा प्रचलित है। आज भी शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अप्राप्त-अनुपलब्ध पुस्तकों के तथ्यों को छात्र गुरु मुख-श्रुत-वचन का प्रमाणिक मानकर उत्तर देता है। यह प्रक्रिया भी श्रुत-मौखिक-परम्परा है। भारतीय परम्परानुसार प्राचीन काल में वेदों को शिष्यजन गुरु मुख से मौखिक परम्परा के द्वारा सुनता था, तो शिष्य उसी ढंग से उसका उच्चारण करते थे और पृथक से अभ्यास करते थे। यह अवधेय है कि वेद ज्ञान की इस मौखिक परम्परा में सहस्त्रों वर्षों में भी एक भी मात्रा की त्रुटि नहीं हुई।

शिक्षा का व्युत्पत्तिगत अर्थ इस प्रकार है, ''शिक्ष्यते उपदिश्चते यत्र सा शिक्षा'' अर्थात् जिस माध्यम अथवा प्रणाली के द्वारा उपदेश दिया जाता है, वही शिक्षा है।[4] भाषा शब्दकोष के अनुसार इसका अर्थ है - ''किसी विद्यार्थी के सीखने, सिखाने की क्रिया, पढ़ाई, उपदेश, सिखवन, सीख, तालीम, गुरु के समीप विद्याभ्यास, सलाह छः वेदांगों मे से वेदों के स्वर, मात्रा का निरूपक एक विधान, दबाव, शासन, सबक''[5] प्रसिद्ध जर्मन शिक्षा-शास्त्री पेस्टालाजी *(Aestalozzi)* के अनुसार, ''शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, सम्यक और प्रगतिशील विकास है।'' इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में ''मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।''[6] अतः मानव की रुचियों और उसकी जन्मजात शक्तियों का सम्यक विकास करना ही शिक्षा का मूल ध्येय है।

प्राचीन काल से ही संगीत के दो रूप लौकिक तथा शास्त्रीय प्रचलित रहे हैं। लौकिक संगीत का स्वरूप लोक संस्कृति का अंग रहा है। इस संगीत में पारम्परिक दक्षता का बड़ा महत्व है। कोई स्त्री या

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत विभाग, मगधा महिला महाविद्यालय, पटना

पुरुष बचपन से अपने पूर्वजों की संगत में यह संगीत सीखता है तथा किशोरावस्था तक पारंगत हो जाता है। यह परम्परा निरंतर जारी रहती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को यह उत्तरदायित्व सौंपती चलती है और उसकी परम्परा आगे बढ़ती रहती है। नई पीढ़ी अपनी तरफ से अपनी बुद्धि और प्रतिभा से इसमें कुछ जोड़ती घटाती है। जिससे इसमें समयानुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहते हैं जो इस कला के जीवंतता को बनाये रखता है।[7] अतः स्पष्ट है कि लौकिक संगीत (लोक संगीत) की शिक्षा श्रुति-मौखिक परम्परा के द्वारा ही सम्पन्न होता है।

शास्त्रीय संगीत के आसन पर वैदिक काल में जहाँ 'साम गान' विराजमान था, वहीं बाद में 'जाति' गान एवं आगे चलकर 'राग' प्रणाली शास्त्रीय संगीत का पर्याय हुआ। 'साम' को शास्त्रीय संगीत मानने का कारण यह है कि इसमें शास्त्रीय संगीत के वे सभी लक्षण घटित होते दिखाई पड़ते हैं, जो कि संगीत के लक्षण-ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। यज्ञों में 'साम' की महत्ता के कारण ऋत्विकों की एक स्वतन्त्र उदगातृ-संस्था का निर्माण हो चुका था, जिसका विशेष कार्य विभिन्न अवसरो पर सामों का गान करना था।[8]

उद्गातवर्ग के ऋत्विजों को 'साम' गान की शिक्षा के तीन रूप प्रचलित थे।[9] प्रथम रूप था, पिता द्वारा पुत्र को सामगान का प्रशिक्षण। जब ऋत्विज यज्ञों में जाते थे तो वे अपने साथ अपने पुत्र को भी ले जाते थे। पिता के साथ यज्ञों में भाग लेने के कारण पिता द्वारा गाये जाने वाले मंत्रों का श्रवण कर हू-बहू गाने का अभ्यास कर वे उद्गाह वर्ग का कार्य करने में सक्षम हो जाते थे। साम-शिक्षा का दूसरा रूप गुरु-शिष्य परम्परागत था। उद्गातवर्ग का कार्य करने के इच्छुक विद्यार्थी आचार्य से व्यावहारिक रूप से सामगान का प्रशिक्षण लेते थे। साम-प्रशिक्षण का तीसरा रूप गुरुकुल मे जाकर गुरु से सामो का अध्ययन करना था। आचार्य पहले शिष्यों के सामने स्वयं साम का गान करता था, तदन्तर शिष्य उसी का अनुकरण करते थे।[10] गुरु शिष्य आमने-सामने बैठकर मौखिक परम्परा से ज्ञानार्जन करते थे। अतः स्पष्ट है कि सामगान की शिक्षा श्रुति-मौखिक परम्परा के द्वारा होती थी। आज भी यह परम्परा दृष्टिगोचर है।

नारदीय शिक्षा की दृष्टि से स्वर के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वरशास्त्र का ज्ञान होना अनिवार्य है। बिना शास्त्राध्ययन के सामगान में विस्वर होने की संभावना बनी रहती है। गान विधा मूलतः मौखिक विधा है और इसका यथार्थ ज्ञान अधिकारी गुरु के मुख से संभव है तथापि गान-शास्त्र के बिना वह अपूर्ण तथा एकांगी सिद्ध होगा।[11] शिक्षा ग्रन्थों में पाठ्य तथा गान की तीन वृत्तियाँ (लय) कही गई है - विलंबित, मध्यम और द्रुत। शिष्यों को शिक्षा देते समय 'विलम्बित' वृत्ति का अवलंब आवश्यक है। स्वाध्याय करते समय तथा अधीत वस्तु की गुणन क्रिया में 'द्रुत' वृत्ति का अवलंब अपेक्षित है। प्रत्यक्ष प्रयोग अथवा प्रदर्शन के समय 'मध्यमा' वृत्ति का अंगीकार करना श्रेयस्कर होता है। इस प्रणाली से जिन्होंने स्वरशास्त्र का गम्भीर अध्ययन स्वयं किया हो, वही शिष्यों के अध्यापन के लिए सुयोग्य शिक्षक है। संगीत का अध्ययन केवल ग्रन्थ के आश्रय से अभीष्ट नहीं। स्वरशास्त्र के प्रायोगिक पक्ष के परिज्ञान के लिए 'गुरुसन्निधि' आवश्यक है। गुरु के पारम्परिक शिक्षा के बिना केवल ग्रन्थमात्र से स्वरशास्त्र सीखने वाला व्यक्ति विद्वत्सभा में शोभा विहीन सिद्ध होता है।[12] अतः आचार्यों का अभीष्ट मत है कि प्रायोगिक संगीत का शिक्षा गुरुमुख से श्रवण कर उसके अवलोकन द्वारा ही सम्भव है। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों के अध्ययन से भी विदित होता है कि संगीत में 'सीना-व-सीना तालीम' का महत्त्व रहा है। कुश-लव को वाल्मीकि ने श्रुत-मौखिक पद्धति से ही संगीत की शिक्षा दी थी। इस काल में विद्या का आदान-प्रदान गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा सम्पन्न होता था। समय व परिस्थिति अनुसार इसमें परिवर्तन आया कि गुरुकुलों अथवा आश्रमों के अतिरिक्त संगीत शिक्षा राजमहलों एवं संगीतशालाओं में दिये जाने का प्रादुर्भाव हुआ[13] बृहन्नलारूपधारी अर्जुन की नियुक्ति विराट की राजकन्या तथा राजस्त्रियों की संगीत शिक्षा के लिए किये जाने का उल्लेख महाभारत में है।

बौद्धकाल में संगीत कला के शिक्षण कार्य विश्वविद्यालयों में होने का प्रमाण प्राप्त होता है। जिसमें प्रयोगिक अथवा व्यवहारिक शिक्षण के साथ-साथ ही सैद्धांतिक अथवा शास्त्रीय पक्ष के शिक्षण की व्यवस्था थी। इस काल से लेकर 18वीं शती के पूर्वार्द्ध तक इस कला को राजाश्रय प्राप्त था। संगीत शिक्षण मूल रूप से गुरु-शिष्य परम्परा में ही निहित था। स्वामी हरिदास की शिष्य परम्परा में तानसेन का नाम उल्लेखनीय है, जो इस तथ्य को इंगित करता है कि इस युग में भी अन्य विधाओं, कलाओं की भांति संगीत विद्या भी एक आचार्य से प्राप्त की जाती थी। संगीत शिक्षण से सम्बन्धित गुरु-शिष्य प्रणाली की परम्परा के दर्शन इस युग में भी दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार बैजू के मृगनयनी (राजा मानसिंह तोमर की पत्नी) को संगीत सिखाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

18वीं शती के उत्तरार्ध में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने एवं मुस्लिम शासकों की शक्ति क्षीण होने के कारण संगीत के कलाकार बड़े राजाश्रयों से निकल कर छोटी-छोटी रियासतों की ओर चले। इन्हीं रियासतों में इस कला का पोषण हुआ तथा सांगीतिक परम्परा का विकास भी हुआ। यह सांगीतिक परम्परा बाद में 'घराना' के नाम से स्थापित हुआ। गायन, वादन व नृत्य तीनों के घराने बने।

भारतीय संगीत शास्त्रबद्ध होते हुए भी कलाकार को स्वतंत्र प्रतिभा दिखाने के लिए मुक्त होता है। आलाप, बोल आलाप, तान, बोल-तान आदि में गमक, मीड़, कण आदि अलंकरणों के प्रयोग से राग के नियमों का पालन करते हुए अनेक प्रकार के चमत्कार व वैचित्र्य आदि दिखा कर अपनी कल्पना से अपने स्वभाव, प्रकृति एवं कला-कौशल के बल पर सौन्दर्य को निर्मित करता है। यह कला-कौशल कालांतर में शिष्यों द्वारा अपनाने एवं आत्मसात करने से गायकी की परम्परा बनती है। यह परम्परा कई पीढ़ियों से गुजरने के बाद 'घराना' के नाम से ख्यात होता है। यह घराना गुरुओं के नाम अथवा गुरुओं के निवास स्थान के नाम से पहचानी जाती है।[14]

घरानेदार शिक्षा का मूल उद्देश्य कलाकार पैदा करना रहा है। अतः यहाँ क्रियात्मक शिक्षण का ही महत्त्व रहा है। यह शिक्षण गुरु द्वारा बताए गए स्वर या स्वर समूहों को शिष्य श्रवण कर हू-बहू उच्चारण करने की कोशिश करता है तथा अपने अभ्यास के बल पर हू-बहू नकल करता है। गुरु के बताए गए हर उपांग-क्रियांग को सांगोपांग कर शिष्य अपने फन में दक्षता प्राप्त करता है एवं एक सम्पूर्ण कलाकार के रूप में समाज में प्रतिष्ठित होता है। इस पद्धति में भी श्रुति-मौखिक शिक्षण का महत्त्व है।

घराना पद्धति में किसी उस्ताद से संगीत की शिक्षा लेना लोहे के चने चबाने से कम कठिन कार्य नहीं था। उस्ताद लोग अपने पुत्रों एवं पौत्रों के सिवा नाते-रिश्तेदारों तक को अपनी विशिष्ट गायकी के रहस्य सिखाने के लिए किसी भी तरह रजामंद नहीं होते थे। गुरुभक्ति से खुश होकर ही वे अपनी खास गायकी के रहस्य को बतलाते थे। घरानेदार गायकी के तीन प्रकार कहे गए हैं, खासुलखास (अति विशिष्ट) तालीम, जो केवल अपने पुत्रों एवं पौत्रों को देते हैं। 'तालीमखास' जो संबंधियों को दी जाने वाली शिक्षण पद्धति है एव 'तालीमआम' जो गंडा बन्ध शिष्य को दी जाती है।[15] इनमें शिक्षण कार्य गुरु मुख से श्रवण कर ही होता है।

वर्तमान मे विश्वविद्यालयीन तथा महाविद्यालयीन शिक्षण में संगीत का मूल पक्ष क्रियात्मक स्वरूप के साथ-साथ इसके सैद्धांतिक पक्ष को भी रेखांकित किया जाता है। क्रियात्मक स्वरूप की शिक्षा गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार ही होता है अन्तर केवल जहाँ घरानेदार शिक्षण में गुरु और एक शिष्य एक समय में शिक्षा पाते थे वहीं विद्यालयीन शिक्षण में अनेक शिक्षार्थी एक साथ शिक्षा प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिक प्रगति के युग में वैज्ञानिक संयन्त्रों का आश्रय लेते हुए मनोवैज्ञानिक विचारशीलता को अपनाते हुए उसके सांस्कृतिक महत्त्व को दर्शाते हुए शिक्षार्थी को शिक्षित किया जाता है। दृश्य एवं श्रव्य माध्यमों के माध्यम से भी शिक्षा देने की व्यवस्था यहाँ है। यहाँ शिक्षा का तात्पर्य सारगर्भित रूप में संगीत साधना के प्रति विद्यार्थी के अटूट श्रद्धा व आस्था उत्पन्न करना, संगीत के प्रयोगों के प्रति विशाल दृष्टिकोण

अपनाते हुए भी उसके लालित्य एवं रसात्मक तत्त्वों के प्रति सचेत रहना तथा परम्परा के प्रति श्रद्धा रखते हुए नवीनता की ओर देखने की दृष्टि यहाँ प्रदान की जाती है।[16] आधुनिक संसाधनों के उपयोग होते हुए भी इस शिक्षण में गुरु के मुख से श्रवण कर ही मुख्य रूप से सांगीतिक शिक्षा दी जाती है। उदाहरणस्वरूप तोड़ी, दरबारी, मियांमल्हार, बहार आदि राग में कोमल गांधार प्रयुक्त है लेकिन यह स्वर किस राग में किस तरह से उच्चारित होगा या किस तरह से प्रयोग किया जायेगा, यह गुरुमुख से ही श्रवण कर सीखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि राग में प्रयुक्त स्वरों का लगाव या उच्चारण किस स्थान एवं किस प्रकार किया जायेगा तथा स्वरों का संयोजन किस प्रकार से होगा, यह गुरु मुख से ही जाना जा सकता है।

अतः स्पष्ट है कि भारतीय संगीतिक शिक्षण परम्परा की मौलिकता उसकी मौखिक आदान-प्रदान में रहा है। यहाँ प्राचीनकाल से ही संगीत का शिक्षण मौखिक रूप से दिया जाता रहा है। संगीत के सैद्धांतिक तथा क्रियात्मक दोनों पक्षों का संरक्षण एवं संवर्धन इसी मौखिक परम्परा से सहस्रधिक वर्षों से होता रहा है। वर्तमान मे भी श्रुति-मौखिक-परम्परा से ही संगीत की क्रियात्मक शिक्षा प्रदान की जा रही है तथा आगे भी यह परम्परा जारी रहेगी।

संदर्भ सूची

1. निगम प्रो.वी.एस., संगीत कौमुदी, पहला भाग, पृ. 57
2. निरगुणे वसन्त, लोक संस्कृति, पृ. 9
3. मिश्र, वाचस्पति, सांख्यतत्त्वकौमुदी, 2
4. परांजपे, डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 123
5. 'रसाल', रामशंकर शुक्ल (सं.), भाषा शब्दकोष, पृ. 1461
6. श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र (सं.), संगीत निबन्ध संग्रह, पृ. 83
7. कुमार डॉ अरविंद, लोकस्वर से शास्त्रीय स्वर की ओर, अनुपमा (स्मारिका), पृ. 10
8. शर्मा, डॉ पंकजमाला, साम-गान और शास्त्रीय संगीत, वैदिक संगीत अंक, जनवरी - 2007 ई0, पृ. 12, 13
9. शर्मा, डॉ पंकज माला, वैदिक युग में संगीत-शिक्षण का महत्त्व, संगीत शिक्षा अंक, जनवरी-फरवरी 1988 ई0, पृ. 7
10. वही, पृ. 10
11. परांजपे, डॉ शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 129
12. वही, पृ. 130
13. कपूर, तृप्त, उत्तर भारत में संगीत शिक्षा, पृ. 36
14. घराना अंक, संगीत, जनवरी-फरवरी, पृ. 10, वर्ष 1982 ई0
15. वही, पृ. 8
16. पलनीटकर, डॉ अलकनंदा (सं.), शास्त्रीय संगीत शिक्षा : समस्याएं एवं समाधान, पृ. 58

ऋषभ स्वर का महत्व

(हिन्दुस्तानी संगीत के रागों में स्थान एव विविध प्रयोग की दृष्टि में)

डॉ. रामशंकर

शब्द और नाद की दृष्टि से उत्पन्न रस ब्रह्ममाण्ड में मौजूद सभी जड़-चेतन को समान भाव से एक सूत्र में बाधतें है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में मानव सभ्यता के आदि काल में ही अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से इस सत्य का साक्षात्कार कर लिया था और वेद की ऋचाओं में मुखरित उनकी यह आत्मानुभूति संगीत बनकर प्रस्फुटित हुई।

"राग" भारतीय संगीत की प्रमुख विशेषता है। रागों का प्रादुर्भाव आधुनिक युग की देन नहीं है अपितु भिन्न-भिन्न काल में प्रस्तुति का आधार जो भी रहा, वह सब माधुर्य तथा रस से ओत-प्रोत रहा संगीत प्रस्तुति के इन आधारों की आकृति और संज्ञा में परिवर्तन आते गये और यह अधिकाधिक उन्नत एवं समृद्ध होती गयी।

संगीत मे जहां उन्नति और समृद्धि होती रही वहीं विभिन्न घरानों के अपने-अपने अंदाज या परम्परा में रागों के गायन में स्वरों के प्रयोग में कुछ ना कुछ अन्तर होता रहा है। प्रत्येक स्वरों का भिन्न-भिन्न रागों में प्रयोग का तरीका भी भिन्न होता है। जो राग का स्वरुप स्थापित करने में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते है।

प्रत्येक स्वर की अपनी गरिमा है अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है परन्तु ऋषभ स्वर की बहुआयामी भूमिका है। यह अपने पौरुष के कारण ही विशिष्ट व्यक्तित्व का स्वामी है।

रागों में ऋषभ ऐसा महत्वपूर्ण स्वर है जो रागो के समय निर्धारण से लेकर थाटो में परिवर्तित आदि के गायन के बहुत से महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। सप्तक में कोमल ऋषभ एक ऐसा स्वर है जो एक ही राग में दो सप्तकों मध्य एवं तार में दो भिन्न- भिन्न प्रकार की भूमिका निभाता है। ऋषभ के अतिरिक्त अन्य कोई इस स्वर सप्तक में पृथक्-पृथक् भूमिका नहीं निभाता। ऋषभ के आधार पर ही संधिप्रकाश रागों का वर्ग बनता है। कोमल ऋषभ का होना अनिवार्य है। ऋषभ की अनुपस्थिति भी राग-समय निर्धारण में अहम् भूमिका निभाती है। एक ही थाट के दो अंग बनने में भी कोमल ऋषभ का योगदान है। कंठ की सहजता की दृष्टि से यह स्वर महत्वपूर्ण एवं सहज है, मध्य एवं तार सप्तकों में यह स्वर कंठ स्वर की परिधि में सहजता से प्रयुक्त होकर रक्तिगुण की वृद्धि करता है। रागों में पृथकीकरण में भी ऋषभ के कोमल एवं शुद्ध दोनों का योगदान है।

पं0 भातखडे जी ने कुल 10 थाट माने है। और उन्ही में समस्त रागों को वर्गीकृत किया है । केवल ऋषभ के आधार पर समस्त थाटों के दो बराबर भाग बन सकते है। ऋषभ के कोमल एवं शुद्ध दोनो रूप वादी सम्वादी बनते है शेष स्वर अपने दोनो रूपों में नही होते, इस प्रकार विहंगम दृष्टिपात् करे तो सप्त स्वरों में ऋषभ की विशिष्ट भूमिका है।

हिन्दुस्तानी संगीत के रागों में स्थान एवं विविध प्रयोग की दृष्टि से ऋषभ स्वर के महत्व को प्रकाशित करना है। ऋषभ के प्रयोग से पड़ने वाले प्रभावो में एवं पूरक स्वर के रुप में ऋषभ स्वर की उपयोगिता ऋषभ के अलपत्व-बहुत्व कोमल तथा शुद्ध स्वरूप ऋषभ के साथ अन्य स्वरों की संगति तथा अंग

सहायक आचार्य, गायन विभाग, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

निर्माण की दृष्टि से ऋषभ का आन्दोलित होना महत्वपूर्ण है।

संगीत एक त्रिवेणी है जिसमे से गायन वादन एवं नृत्य तीनों का समावेश है। ''गीत वाद्य तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते'' संगीत रत्नाकर में कहा गया है। लय एवं नाद संगीत के मुख्य तत्व हैं। संगीत मानव की तीव्रानुभूतियों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है तथा मानव के विकास के साथ ही इस कला का विकास होता चला आ रहा है।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला केवल लोकरंजन की वस्तु नहीं होती है। ललित कलाएं मानव के सौंदर्य बोध की प्रतीति है और अलौकिक आनन्द की सिद्धि में सहायक होती है। सभी ललित कलाओं ने संगीत को अपना माध्यम बनाया है क्योकि नाद सूक्ष्म है अतः संगीत सर्वश्रेष्ठ ललित कला है। समस्त ललित कलाओं ने अपने आपकों समृद्ध करने के लिए संगीत का सहारा लिया है। वास्तुकारों ने अपनी कला-कृतियों को संगीत के माध्यम से जीवित रखा है। अजन्ता, एलोरा की मूर्तियों की जीवन्तता आज भी संगीतमयता के कारण ही हैं। काव्य भी अपनी संगीतमयता के कारण ही गद्य-साहित्य से पृथक रहा है। चित्रकारों ने भी संगीत को अपनी कला का विषय बनाया। रागमाला चित्रों का चित्रण इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वास्तव में सभी कलाएं अपनी चरम विकास की अवस्था में संगीत का रूप धारण करती है।

''हिन्दुस्तानी संगीत का प्रमुख आधार ''राग'' के अन्तर्गत राग शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न अर्थ एवं परिभाषा का वर्णन करते हुए प्राचीन मध्यकालीन एवं आधुनिक काल में प्रचलित राग-वर्गीकरण की रुप रेखा को विवेचित किया है। ''राग'' हिन्दुस्तानी संगीत का मुख्य उपकरण है। स्वर और वर्ण से अलंकृत जन चित्त को आप्लावित करके आनन्दमय बना देने वाली ध्वनि विशेष ही राग है। रंजकता राग का विशिष्ट लक्ष्य है राग का स्वरुप है। ध्रुपद धमार, ख्याल, टप्पा आदि राग प्रकटीकरण की कलात्मक शैलियां हैं इनके द्वारा रागों की रागात्मक विशेषताओं का दिग्दर्शन होता है।

संगीत के प्रमुख तत्व ''स्वर'' को निम्न शीर्षकों द्वारा विवेचित किया गया है। स्वर की व्युत्पत्ति, अर्थ परिभाषा स्वर नामों की सार्थकता स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वरों की राग में भूमिका। ''स्वर'' में स्वयं प्रकाशित होने, आनन्द प्रदान करने की क्षमता होती है। संगीत के स्वर किसी पर अवलम्बित न होकर स्वयं अभिव्यक्ति में सक्षम और रंजन करते हैं। ''स्वर'' अन्तर्चेतना को अलौकिक आनन्द प्रदान करने में सक्षम है।

''अन्य स्वरों के परिप्रेक्ष्य में ऋषभ की भूमिका'' के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्वर ऋषभ पर विहंगम दृष्टिपात किया है। सप्त स्वरों में ऋषभ की बहुआयामी भूमिका है। ऋषभ के दोनों रूप कोमल एवं शुद्ध को विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचित किया गया है। जिसमें प्रकारों के क्रम निरूपण, वादी, सम्वादी, अंग निर्माण, विसम्वाद की दृष्टि से वर्णन किया गया है। शक्ति के प्रतीक के रुप में सप्तक के परिप्रेक्ष्य में एवं कण्ठ स्वर की सहजता की दृष्टि से भी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। राग भेद, रागत्व, अलपत्व, बहुत्व उच्चारण भेद की दृष्टि से तथा गायन समय के परिप्रेक्ष्य में षड्ज की महत्ता में सहायक, स्वतन्त्र व्यक्तित्व का नियामक आदि का विवेचन है। इसके साथ ही पूर्वी तथा श्री अंग में अन्तर का कारण ऋषभ दस थाटों में दो वर्ग का कारण ऋषभ, पूरक स्वर के रूप में ऋषभ का विशेष के रुप में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

सप्त स्वरों में 'ऋषभ' की बहुआयामी भूमिका है। ऋषभ के दोनों रुप कोमल एवं शुद्ध की भूमिका का अनेक दृष्टिकोणों से मूल्यांकन किया गया है। कोमल ऋषभ के सात प्रकार निर्मित किये गये हैं-

1. पूर्वी का साधारण कोमल ऋषभ
2. मारवा का स्थिर, दृढ़ व दीर्घ कोमल ऋषभ
3. श्री का स्पर्श व कण से सहायता प्राप्त कोमल ऋषभ
4. पूरिया का परमुखापेक्षी कोमल ऋषभ
5. भैरव का आन्दोलित कोमल ऋषभ
6. जोगिया का कोमल ऋषभ
7. मुल्तानी का कोमल ऋषभ

जोगिया तथा मुल्तानी में कोमल ऋषभ अत्यल्प है और स्पर्श के रुप में प्रयुक्त होता है। अन्

कोमल स्वर या तो वादी होते है या तो संवादी। उदाहरणार्थ- कोमल गंधार संवादी तो हो सकता है वादी नहीं, कोमल धैवत वादी हो सकता है संवादी नहीं, परन्तु कोमल ऋषभ वादी भी होता है संवादी भी।

यह स्वर श्री राग में वादी का स्थान ग्रहण करता है। भैरव राग में संवादी का स्थान ग्रहण करता है। कोमल ऋषभ पूर्वी, श्री, भैरव, पूरिया अंगों का सर्जक है। यह स्वर विसंवादी स्वर होते हुए भी अन्य स्वरों को अपने साथ संवाद करने के लिए बाध्य करता है और प्रतिकूलता में भी अपने व्यक्तित्व को निखारता है। यह स्वर अपने पौरुष के कारण स्वरित की भी उपेक्षा कर देता है। मध्य सप्तक में वर्जित होते हुए भी तार सप्तक में प्रयुक्त होने लगता है। राग समय निर्धारण में भी कोमल ऋषभ का महत्वपूर्ण योगदान है। कोमल ऋषभ के आधार पर राग समय निर्धारण का संधि प्रकाश राग सिद्धान्त बना है। इस सिद्धान्त की प्रथम अनिवार्यता कोमल ऋषभ की उपस्थिति ही है। कोमल ऋषभ के आधार पर उत्तर भारत में प्रचलित दस थाटों के बराबर दो वर्ग बन सके है और उत्तर भारतीय संगीत के अधिकांश सग उन दोनों में वर्गीकृत हो सके है। प्रथम वर्ग में कोमल ऋषभ का प्रयोग होता है इसके अन्तर्गत भैरव, पूर्वी, मारवा, तोड़ी, भैरवी, ये पांच थाट तथा इनके अन्य राग आते है। द्वितीय वर्ग में शुद्ध ऋषभ का प्रयोग होता है और इसके अन्तर्गत कल्याण, बिलावल, खमाज, काफी, आसावरी, यें पांच थाट तथा इनके अन्य राग आते है। पूरक स्वर के रुप में भी कोमल ऋषभ महत्वपूर्ण है। ऋषभ और गंधार एक दूसरे के पूरक स्वर है। 'रे ग' की जोड़ी पूर्वांग प्रधान रागों की विशेषता है। पूर्वांग की यही 'रे ग' की जोड़ी दुर्बल होकर अपने संवादी स्वरों पंचम धैवत को प्रबलत्व प्रदान कर रागों को उत्तरांग प्रधान बनाती है।

कोमल ऋषभ के विशिष्ट प्रयोग के कारण ही पूर्वी थाट के रागों के दो अंग बने है:--

(1) श्री अंग

(2) पूर्वी अंग

श्री अंग ऋषभ को देखता है पूर्वी अंग गंधार को। श्री अंग का विश्रांति स्थल ऋषभ है। इस अंग के पूर्वांग प्रधान रागों में 'रे ग' की जोड़ी अवरोहात्मक होती है। पूर्वी अंग का विश्रांति स्थल गंधार है। इस अंग के पूर्वांग प्रधान रागों में 'रे ग' की जोड़ी आरोहात्मक होती है।

शुद्ध ऋषभ भी रागों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह वादी भी होता है संवादी भी। इसमें लीनक तथा बहुल दोनों क्रियाएं पाई जाती है। रागत्व के निर्धारण में इसका महत्वपूर्ण योगदान है। इसके आधार पर कल्याण, कान्हाड़ा, सोरठ आदि कई अंगों का स्पष्टीकरण होता है। समान स्वर वाले रागों में यह स्वर अल्पत्व बहुत्व रुप में रहकर राग भिन्नत्व में सहायक होता है। राग मिश्रण के मिलन स्थल के रुप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऋषभ की यह भूमिका मारु बिहाग व शिवमत भैरव में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। राग समय निर्धारण में भी इसका योगदान होता है।

कोमल स्वर आन्दोलित होते है शुद्ध स्वर नहीं। गायक की दृष्टि से शुद्ध स्वर कही भी आन्दोलित हो सकते है परन्तु अंग निर्माण की दृष्टि से मात्र शुद्ध ऋषभ मध्यम से आन्दोलित होकर मल्हार अंग का निर्माण करता है। धनाश्री अंग के रागों यथा धनाश्री, भीमपलासी, पटदीप, प्रदीपकी, भीम्र, हंसकिंकणी, घानी आदि में आरोह में वर्जित होकर ऋषभ इन्हें दिन के तृतीय प्रहर में गाये जाने वाले रागों का वर्ग बना देता है।

ऋषभ की अनुपस्थिति ही कौंस के प्रकारों की पहचान है। कौंस के प्रकारों का निर्माण कोमल गंधार व षड्ज के मध्य ऋषभ को वर्जित करने से ही होता है। मालकौंस राग में किसी भी स्वर को परिवर्तित करके, जोड़ या घटा के कौंस प्रकारों का निर्माण होता है। चन्द्रकौंस, मधुकौंस, जोगकौंस, हरिकौंस, मोहनकौंस राग, कौंस के प्रकार माने जाते है। कोमल गंधार व षड्ज के मध्य ऋषभ की अनुपस्थिति अर्थात् ग स कौंस का जीवभूत अंग है।

सारंग, कान्हड़ा, मल्हार, बिलावल, नट, गौड़, काफी, धनाश्री, सोंरठ, भैरव, पूर्वी, श्री, पूरिया, आदि जितने भी बहुमान्य अंग है, सबका स्पष्टीकरण पूर्वांग में ही होता है, उत्तरांग में नहीं। बसन्त राग को श्री अंग का राग माना जाता है परन्तु सूक्ष्म विवेचन करने के बाद यह स्पष्ट हुआ है कि बसन्त

पूर्वी अंग का राग है,श्री अंग का नहीं। बसन्त राग में लगभग 80 प्रतिशत पूर्वी का रुप दृष्टिगोचर होता है।

रागों में स्वर संगति की भूमिका में स्वर संगति का उद्भव एवं विकास, परिभाषा, नियम, प्रकार, महत्व का वर्णन करते हुये इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों को भी समाहित कर प्रस्तुत किया गया है।

रागों में प्रयुक्त स्वरों में एक या एक से अधिक स्वरों को लांघ कर संवाद या सम्बन्ध स्थापित ही स्वर संगति की परिभाषा है। लंघन स्वर संगति की अनिवार्य क्रिया है परन्तु लंघन राग में प्रयुक्त स्वर का होना चाहिए वर्जित स्वर का नहीं। स्वर संगति के सात स्वर वर्ग निर्धारित किये गये हैं--

1. अनिवार्य एवं अंगवाचक स्वर संगतियां जैसे- मल्हार के "रे "रे प
2. महत्वपूर्ण स्वर संगतियां यथा शुद्ध कल्याण की प रे।'।
3. स्वर समूहों में निहित स्वर संगतियां जैसे- नंद की ग म ध प "रे।
4. वर्ण के अन्तर्गत प्रयुक्त साधारण स्वर संगतियां जैसे- सा रे ग, देशी की 'रे प', 'प रे'।
5. स्वर संगतियों का आभास उत्पन्न करने वाले स्वर समूह यथा शंकरा में ग प ग इसमें 'प रे' की स्वर संगति का आभास होता है।
6. सहज स्वर संगतियां यथा भीमपलासी, मालकौंस 'स म'।
7. स्वर संगतियों के इस प्रकार में स्वर संगति के दोनों स्वर भिन्न-भिन्न सप्तक के होते है जैसे जयजयवन्ती में 'प़ रे' देवगिरी में 'प़ ग' स्वर संगतियां आरोहात्मक तथा अवरोहात्मक दोनों प्रकार की होती है। जयजयवन्ती राग में 'नि स ध़ नि़ " रे- में मात्र नी़ " रे कह देने से स्व संगति का उद्देश्य पूरा नही होता। इसी तर हमीर में ग म नि ध की संगति है केवल म नि ध कहने से राग की झलक भी नहीं आयेगी। षड्ज गंधार सम्वाद की स्वर संगतियां अधिकतर स्वर समूहों में निहित वर्ग में ही प्रयुक्त हुई है। 'रे प' या 'प रे' की स्वर संगतियां स्वर समूहो में निहित वर्ग में अपवाद स्वरूप ही है यथा नंद की ग म ध प रे स्वर संगति। अधिकांशतः ये स्वर संगतियां स्वतंत्र हैं। षड्ज पंचम भाव की स्वर संगतियां यदा कदा श्री अंग के रागों में ही प्रयुक्त हुई है।

श्री अंग के रागों में एक अन्य भाव की संगति प्रचार में आई जिसका आधार शुभ संवाद नही है। यह स-प, स-म संवाद के मध्यवर्ती स्थान से प्रस्फुटित हुई। कोमल ऋषभ की स्वर संगतियों का आधार विसंवाद है। शुद्ध ऋषभ की संगतियों का आधार शुभ संवाद है। शुक्ल बिलावल की नी़ ग भटियार की स ध संगतियों का पृथक् वर्ग है। षड्ज गंधार भाव की स्वर संगतियां विभिन्न रुपों में पूरे सप्तक में व्याप्त है परन्तु रागवाचक स्वर संगतियों का आधार षड्ज मध्यम भाव है तथा उसकी भूमि स रे म प स्वर है।

उत्तर भारतीय संगीत के 10 थाटों के भिन्न-भिन्न रागों में ऋषभ एवं उसकी स्वर संगतियों की भूमिका का स्पष्टीकरण एवं विवरण प्रस्तुत किया गया है। आशा है कि यह विचार शास्त्रीय संगीत जगत के विद्यार्थियों एवं संगीत जिज्ञासुओं के लिए लाभप्रद होगा।

राग भैरव का स्वरुपगत अध्ययन

प्रो0 कंवर इकबाल सिंह

इस सरस ब्रह्म की रसवक्ता ही संगीत है। वस्तुतः संगीत ईश्वरीय वरदान है। शास्त्रों के अनुसार ब्रह्म अद्वितीय, अखण्ड या अद्वैत होते हुये भी पर ब्रह्म और शब्द ब्रह्म इन दो रुपों में परिलक्षित होता है। शब्द ब्रह्म को जान लेने से ही परब्रह्म की प्राप्ति मानी गई है यथा-

"शब्द ब्रह्माणि निरणातः पर ब्राधिगच्छसि"।[1]

रस वक्ता की दृष्टि से भैरव राग एक अत्यन्त मधुर राग है। यह राग प्राचीनकाल से ही अग्रगण्य राग माना गया है जिसका भारतीय संगीत में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रुप से शास्त्रीय तथा प्रयोगात्मक पक्ष में विशिष्ट स्थान रहा है। यह प्राचीन प्रमुख 6 रागों में से एक राग है। इस राग की प्राचीनता इसी से प्रमाणित हो जाती है कि अनेक वर्षों से इसकी लोकप्रियता संगीत जगत पर छाई हुई है। संगीत साधना में इस राग का विशेष महत्व है। प्रातः काल संगीत-साधना हेतु इस राग को सर्वाधिक उपयुक्त राग माना जाता है। इस राग की नित्यप्रति साधना पर गुणीजन विशेष बल देते हैं क्योंकि संगीत सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया का यह राग सहज रूप में मार्गदर्शन करता है।

संगीत के आदि ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में भैरव राग का स्पष्ट उल्लेख नही हैं। नामाविधान भले ही न हो लेकिन भैरव के स्वरों जैसी मूर्च्छना अवश्य रही है जो उस समय गाई जाती थीं। आचार्य वृहस्पति ने इसे मूर्च्छना कहा है। "इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर निषाद है जो करुण रस की उत्पत्ति करता है। काकली निषाद एवं तीव्र मध्यम जैसे शोक बोधक स्वरों का अस्तित्व इसके करुण प्रभाव में और वृद्धि करता है।"[2] इसी प्रकार मतंग कृत 'बृहद्देशी' में भी स्पष्ट रुप से राग भैरव के स्वरुप का पता नहीं चलता अपितु राग शब्द पारिभाषिक रुप से सर्वप्रथम मतंग की बृहद्देशी में व्यवहृत हुआ जो संगीत के लिये बहुत महत्वपूर्ण था जैसे-

"चतुर्णामपि वर्णाना यांगा रागः शोभना
स सर्वोदृष्यन्ते येन तेन रागः स्मृत"[3]
"स्वर वर्ण विशिष्टेन ध्वनि भेदेन वा पुनः।
रंज्यते येन यः कश्चित् सरागः समतः सताम"।।[4]

राग भैरव का स्पष्ट उल्लेख नौवीं शताब्दी में आचार्य पार्श्वदेव द्वारा रचित 'समयसार' नामक ग्रन्थ में मिलता है। आचार्य कैलाशचन्द्र वृहस्पति लिखते हैं- "भैरव राग की गणना रागांग रागों में की जाती थी। भैरव तथा श्री राग पंचम ऋषभहीन राग हैं जिसका अभिप्राय यह था कि भैरव औड़व जाति का रागांग राग माना जाता है।"[5] पार्श्वदेव ने अपने ग्रन्थ समयसार में राग भैरव को भिन्नषडज से उत्पन्न माना यथा-

"भिन्नषड्ज समुद भूतो मन्यासोधांश भूषितः।
सम स्वरो रि प व्यक्त प्रार्यने भैरवः स्मृतः।"[6]

संगीत के वहु-चर्चित ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में इस तथ्य/कथन की पुष्टि की गई है-

शड्जोदीप्य पतीजातो भिन्न शड्जो रिपोज्झितः।
भांश ग्रहों मीयमात्त उतरायता युतः।।
संचारी वर्ण रुचिरः प्रसन्नान्तविभूषितः।
काकल्यन्तर संयुक्तष्चतुरानन देवतः।।
हेमन्ते प्रथमे यामे वीभत्से सभयानके।
सार्वभौमोत्सवे गेयो भैरवस्तत्समुद्भव।।[7]

पी जी गवर्नमेंट कॉलेज, सैक्टर-46, चण्डीगढ़

उपरोक्त श्लोक से यह प्रतीत होता है कि भैरव राग का सम्बन्ध भिन्नषडज से था जो शडजोदिचवती जाति जन्य था।

राग रागिनी वर्गीकरण की चर्चा सर्वप्रथम नारदकृत ग्रन्थ संगीत मकरन्द में प्राप्त होती है जिसमें राग को पुरुष तथा रागिनियों को स्त्री मानकर एक नये वर्गीकरण को विकसित किया गया है। इसमें भी चार मत प्रचलित हुये अपितु सब मतों में विभिन्न ऋतुओं के अनुरुप छः रागों को मान्यता प्रदान की गई। यद्यपि इन मतों में समानता कम और विभिन्नता अधिक पाई गई है तथापि भैरव राग के विषय में कोई मतभेद नहीं पाया जाता है। इसे एक प्रमुख राग स्वीकार किया गया है। इसके उपरान्त कवि लोचन ने राग भैरव को प्रथम राग मानकर इस प्रकार वर्णित किया है-

"भैरवः कौशिकश्चैव हिन्डोलो दीपकस्तया।
श्री रागो मेघ रागश्च शडेते हनुमन्यतः।।"[8]

अर्थात कवि लोचन ने प्रमुख छः रागों को हनुमानमत के अनुसार माना। ये मुख्य राग भैरव, कौशिक, हिन्डोल, दीपक, श्री तथा मेघ थे। कवि लोचन ने भैरव की 5 रागिनियां मानी जिनके नाम बंगाली, मधुमाधवी, बराड़ी, भैरवी तथा सिन्धु बताये गये हैं।

भैरव के महत्व के विषय में संगीत जगत में यह सोरठा बहुत प्रसिद्ध रहा है:-

"प्रथमहि भैरव राग, मालकौंस, हिन्डोल गिना
मेघ, बहुरि श्री राग छटवां दीपक गाय जिना।"[9]

मध्यकाल में मेल-राग वर्गीकरण के अन्तर्गत पं. लोचन ने गौरी मेल के अन्तर्गत भैरव राग की उत्पत्ति बताई है जिसका कोई तार्किक आधार नहीं था। इसके बाद सोमनाथ ने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ 'रागविबोध' में राग भैरव का सम्पूर्ण स्वरुप विवेचित किया है यथाः-

"भैरवे मेले शुद्धाः स रिम पध अंतरश्चकौशिक निः।
भैरव पौर विकाधा रागः मेलदतस्तु स्युः
भांश ग्रह न्यासः सम्पूर्णा भैरव प्रातः"।।[10]

इस प्रकार भैरव को सम्पूर्ण राग माना गया जिसमें धैवत स्वर को अंश अथवा ग्रह स्वर माना गया। "सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त गायक पुरन्दर दास भैरव थाट को उत्तर भारत से दक्षिण भारत में ले गये और उन्होंने कर्नाटक संगीत में राग शिक्षा का मूल आधार इस थाट को बनाया जिसे इस युग के ग्रन्थकार रामामात्य ने 'मालबगौड़ मेल' कहा है।"[11] मौर्यकाल से ही यह राग अथवा थाट को उत्तर भारत तथा दक्षिणी भारत में समान रुप से शिक्षा का आधार माना जाने लगा जिससे इस राग की प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई।

आधुनिक समय में राग वर्गीकरण का एक और तार्किक दृष्टिकोण प्रचलित हुआ जिसे 'रागांग वर्गीकरण पद्धति' कहा गया। इसके अन्तर्गत रागों के अंगभूत टुकड़ों को चुनकर उसके आधार पर बनने वाले रागों को एक वर्ग में रखा गया। रागांग से तात्पर्य ऐसे विशिष्ट स्वर समुदाय से है जो राग को एक विशिष्ट रुप अथवा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। इस प्रकार छोटे से छोटा स्वर समुदाय जो राग की आत्मा को परिलक्षित करे रागांग के रुप में जाना जाता है। रागांग के अस्तित्व से नये-नये रागों के रुपों का जन्म तथा निर्माण हुआ। रागांग की सुन्दर व्याख्या डॉ. कृष्णा विष्ट ने इस प्रकार की है:-

Just as the idiom and not merely grammer makes a language. So also it is the any and not merely scale of a Raga that is its distinguishing feature. Therefore Raganga should be understood as an essential phrase of a Raga, which phrase could well be characteristic of a group of Ragas'.[12]

कुछ विद्वानों के अनुसार नारायण मोरेश्वर खरे ने रागांग प्रणाली का उल्लेख सर्वप्रथम अपने ढंग से किया जिसमें 26 रागांगो का वर्णन है। भैरव इसमें सर्वप्रथम रागांग माना गया है।

रागांग की पृष्टभूमि में विशिष्ट स्वर लगाव रहता है। स्वर मूल रुप से एक स्वतन्त्र नादरूप है ये अनेकानेक नादरुप स्वर परस्पर सुसम्बद्ध रीति से जब प्रयुक्त होते हैं तो उनमें एक अद्भुत रसमय प्रभावोत्पादकता का संचार हो जाता है।

शुद्ध और विकृत स्वरों के परस्पर मेल से अनेक प्रस्तारों का प्रादुर्भाव हो जाता है जिनमें पर्याप्त भिन्नता रहती है। इसी से अनेकानेक राग व्यवहार में आये हैं। वस्तुतः लय की विविधता तथा स्वरों के विभिन्न नाद रुपों के प्रभाव से अनेक भावों का व्यवहार हुआ है जो रागांग वर्गीकरण का आधार है। इसी विशेषता के कारण एक जैसे स्वरों के रागों में भी भिन्न-भिन्न रागों की निर्मिति हुई है जिन्हें समप्रकृतिक राग कहा जाता है।

परिवर्तनशीलता प्रकृति का नैसर्गिक गुण रहा है जिसके आधार पर सृजनात्मक कार्य हुये हैं। संगीत के क्षेत्र में राग भैरव की यात्रा भी इससे अछूती नहीं है। आज भैरव राग का स्वरुप प्राचीन स्वरुप से सवर्था भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि कालान्तर में भावरुप के आधार पर इसमें सृजनात्मक तत्वों की अभिवृद्धि होती रही है। आज के युग में राग भैरव के ध्यान में महादेव का रुप सर्वमान्य है। इस राग को भगवान शंकर का रुप मानते हुये अति मधुर रागों का राजा कहा गया है। राग तरंगिणी में भैरव राग का ध्यान इस प्रकार हैः-

"जटा जूट गंग वसन सित अंग भुजंगम।
वरद करद कृत देव वरद वाहन चढि जगम्।।
आसन कजवर खाल धवलशशि भाल विराजई।
तीनी नयन चितचेन जपत भावक दुःख भाजई।।
कर कलित सूल नृक पाल अरु राग राज अतिमधुर व।
भैरव हर दुई नाहिं जग जेहि गावत सव जगजैसव।।"[13]

आधुनिक समय में रागों के वर्गीकरण का सिद्धान्त थाट-राग पद्धति है। इसमें थाट को जनक तथा उससे उत्पन्न रागों को जन्य माना गया है। इससे पूर्व प्रचलित राग-रागिनी पद्यति को अवैज्ञानिक मानते हुये इसकी कड़ी आलोचना हुई। कर्नाटक संगीत पद्धति में पं. व्यक्टमखी ने गणित के आधार पर 72 थाटों की संख्या निश्चित की तथा इनमें 19 मेलों को स्वीकार किया गया। इसी का अनुसरण करते हुये पं. विष्णु नारायण भातखण्डे ने समस्त रागों को दस थाटों में समाहित किया। यद्यपि यह वर्गीकरण केवल स्वरों के कोमलशुद्ध अथवा तीव्र होने के आधार पर किया गया अपितु इसमें रागांग को भी महत्व दिया गया। इस वर्गीकरण के अन्तर्गत राग भैरव को एक स्वतन्त्र थाट "भैरव" के अन्तर्गत रखा गया जिसमें "भैरव' रागांग रहता है।

वर्तमान में भैरव राग प्रातः कालीन गाये जाने वाला अभिराम राग है जों भैरव थाट तथा भैरव रागांग का प्रतिनिधित्व करता है। इस राग में ऋषभ तथा धैवत स्वर कोमल तथा शेष स्वर शुद्ध प्रयोग किये जाते हैं। राग की जाति सम्पूर्ण-सम्पूर्ण है। धैवत तथा ऋषभ स्वर इस राग के वादी सम्वादी स्वर हैं। जिनमें परस्पर सम्वाद के नियमानुसार 13 श्रुति का अन्तर है।

राग भैरव समय सिद्धान्त में भी विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि इसे सन्धिप्रकाश राग माना गया है। यह राग सुबह सूर्योदय से पूर्व तथा सूर्योदय तक गाया जाता है। समय सिद्धान्त के अनुसार यह राग अपने समप्रकृतिक राग कालिगंडा तथा रामकली के गायन के बाद गाया जाता है। रामकली में तीव्र मध्यम का अल्प प्रयोग और शुद्ध मध्यम की प्रवलता रात्रि के समाप्त होने की सूचक है। इस राग का सम्बन्ध सूर्य से भी जोड़ा जाता है। अतः सूर्य निकलने से पूर्व और बाद में यह राग गाया जाता है।

इस राग में सबसे विशेष बात दृष्टव्य होती है वह है भैरव रागांग। भैरव रागांग की पहचान ऋषभ धैवत कोमल होने तथा उनके प्रबल प्रयोग से होती है। इसके लिये इन स्वरों का बार-बार आन्दोलन आवश्यक रहता है। ऋषभ तथा धैवत स्वरों पर आन्दोलन करने से जहाँ ये स्वर प्रबल रहते हैं वहीं राग में एक गम्भीरता, ठहराव तथा चैनदारी के दर्शन होते हैं जो अन्य रागों में सम्भव नहीं। इस किया की पूर्ति के लिये राग के सम्पूर्ण चलन को भी अनदेखा किया जाता है और गान्धार को वक रूप में ग म रे रे सा तथा नि सा ध ध प आदि स्वरावलियों में दर्शाया जाता है। इसी प्रकार आरोह में सा ग म ध आदि चलन से ऋषभ तथा पंचम को छोड़ना भी युक्ति संगत प्रतीत होता है जिससे मध्यम स्वर चमत्कृत रहता है और

अवरोहात्मक ढंग से ऋषभ पर आन्दोलन करना सहज हो जाता है।

भैरव की ये विशेषतायें रागांग को निर्धारित करती हुई भैरव के अनेक प्रकारों को जन्म देती हैं। इन्हें भैरव के समप्रकृतिक राग अथवा उसके प्रकारों के रूप में जाना जाता है। इस दृष्टि से रामकली, गौरी, कालिगड़ा, भैरव के स्वरों के समान अथवा समप्रकृतिक राग हैं तथा इसके प्रकारों में अहीर भैरव, वैरागी भैरव, शिवमत भैरव, मंगल भैरव, कौसी भैरव, वीहड़ भैरव, मांड भैरव, भैरव बहार, बगांल भैरव, तिलक भैरव, बसन्त, मुखारी, कवीर भैरव, प्रभात भैरव, विभास, रेवा, जोगिया, गुणकली आदि अनेकानेक प्रकार भैरव राग के उल्लेखनीय प्रकार हैं। इनका सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का है जैसे एक पिता की विशेषताएं अथवा गुण धर्म पुत्र में वंशानुगत धर्म से स्थानातरित हो जाते हैं। वैसे ही उपरोक्त वर्णित रागों में भैरव अंग की प्रधानता इन रागों में दृष्टिगोचर होती है।

संदर्भ :

1. बह्मविन्दुपनिषत- श्लोक 22
2. आचार्य वृहस्पति, भरत का संगीत सिद्धान्त- पृ. 275
3. मुनि मतंग, बृहद्देशी- पृ. 81
4. मुनि मतंग, बृहद्देशी- पृ. 81
5. आचार्य वृहस्पति, संगीत समयसार हिन्दी टीका- पृ. 74
6. आचार्य वृहस्पति, संगीत समय सार हिन्दी टीका- पृ. 78
7. कल्लिनाथ, संगीत रत्नाकर भाग-2 टीका, पृ. 71
8. मिश्र बलदेव (सं0), राग तरांगिणी, पृ. 3
9. भट्ट विश्म्भरनाथ, संगीत कादम्बिनी- पृ. 66
10. भातखण्डे पं. विष्णु नारायण, संगीत शास्त्र भाग-2, पृ.146
11. आचार्य वृहस्पति, संगीत चिन्तामणि- पृ. 306
12. J.M.M.A. significance of Raganga in Hindustani Music, Vol. XLIV, p. 210. 1973
13. मिश्र बलदेव (सं0), राग तरांगिणी, पृ. 3

भैरव थाट एवं भैरव अंग के राग (विभास एवं अहीर भैरव)

नूतन कुमारी

भैरव एक थाट भी है और अपने थाट का आश्रय राग भी; इसका अपना एक वैशिष्ट्य हैं यह आदि राग है और राग-रागिणी पद्धति के मुख्य छः रागों में से प्रथम राग भी। यह प्रातःकालीन संधिप्रकाश राग भी है। भैरव थाट का मुख्य राग भैरव धीर-गंभीर प्रकृति का राग है जिसमें ऋषभ, धैवत आंदोलित एवं अति कोमल है, जो शांत एवं करूण रस का पोषक है। भैरव थाट के अंतर्गत आने वाले जितने भी राग हैं या होंगे उनमें प्रायः यही विशेषता होगी कि उनकी प्रकृति गंभीर होगी और उनमें शांत, करूण रस प्रधान होंगे साथ ही इसमें भक्ति साहित्य की प्रधानता विशेष रहती है, क्योंकि समय और स्वरूप के अनुसार ये अधिक खिलते हैं। भैरव एक रागांग राग भी है।

राग के रागवाचक मुख्य अंग को कायम रखकर इसके कुछ स्वरों को शुद्ध या विकृत कर इसका स्वरूप बदलने से, स्वरों को कम या अधिक कर इसकी जाति बदलने से, विविध स्वर-संगतियों व चलन में कुछ परिवर्तन कर या वक्रत्व प्रदान कर स्वरूप बदलने से या इसके रागवाचक अंग या राग के साथ किसी अन्य राग का संयोग करने से जो राग बनते हैं, एवं उसमें मूल राग या उसका स्वरूप दिखाई देता है, तो ऐसे रागों को 'रागांग राग' की संज्ञा दी जाती है, जिसके कई अंग या प्रकार निकलते हैं।

इस प्रकार भैरव तथा इसके रागवाचक अंग के साथ अन्य स्वरों या रागों के संयोग से अहीर भैरव, आनंद भैरव, नट भैरव, बंगाल भैरव आदि कई राग प्रचार में आये हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि भैरव एक रागांग राग भी है।[1]

अब मैं भैरव थाट एवं भैरव अंग के एक-एक राग का परिचय एवं स्वरचित मध्यलय की बंदिश प्रस्तुत कर रही हूं :-

भैरव थाट के राग -

1. कालिंगड़ा
2. विभास
3. जोगिया
4. रामकली
5. गौरी इत्यादि

भैरव अंग के राग -

1. अहीर भैरव
2. आनंद भैरव
3. नट भैरव
4. बंगाल भैरव
5. बसंत भैरव इत्यादि

राग अहीर भैरव

इसे भैरव थाट से उत्पन्न माना जाता है। ऐसे तो यह हिन्दुस्तानी संगीत के दस थाटों में से किसी भी थाट के अंतर्गत नहीं आ सकता है कुछ विद्वान पूर्वांग में भैरव और उत्तरांग में काफी का मिश्रण होने से इसे भैरव और काफी थाट से उत्पन्न मिश्र मेलोत्पन्न राग की भी संज्ञा देते हैं। इस राग का वादी-मध्यम, संवादी षड्ज है। जाति-संपूर्ण संपूर्ण है। इसमें ऋषभ, निषाद कोमल, शेष स्वर शुद्ध है। गायन समय प्रातःकाल है। यह राग भैरव अंग से

शोध छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा।

गाया जाता है तथा अत्यंत प्रचलित एवं लोकप्रिय है।

आरोह- सा रे ग म, प ध नि सां

अवरोह- सां नि ध, प म, ग म रे ऽ सा

पकड़ - ध नि रे, सा, रे ग म, म ग म रे ऽ सा।

स्थायी - सलोने श्याम मोरे मन भावे
बिसरि गई सुधि बुधि तन की

अंतरा - सांवरि सुरत मोहनि मूरत
देखे विना मोहे चैन न आवे।[3]

राग अहीर भैरव तीनताल (मध्यलय)

स्थायी

सा स

म - ध नि ध - म म रे रे ग म रें - सा सा
लो ऽ ने ऽ श्या ऽ म मो ऽ रे म न भा ऽ वे, बि
3 x 2
0

सा ध - नि रे - सा रे म म ग म रे - सा
स रि ऽ ग ई ऽ सु धि बु द्धि त न की ऽ ऽ
3 x 2
0

अंतरा

म सां

म प ध नि सां - सां सां ध - नि सां रें रें सां रें
ऽ व ऽ रि सु ऽ र त मो ऽ ह नि मु र त दे
3 x 2
0

- सां - नि ध - प म रे - ग म रे - सा
ऽ खे ऽ वि ना ऽ मो हे चै ऽ न न आ ऽ वे
3 x 2
0

राग विभास

राग विभास भैरव थाट से उत्पन्न होता है। इसमें ऋषभ, धैवत कोमल तथा शेष स्वर शुद्ध है। इसमें मध्यम, निषाद वर्ज्य होने से इसकी जाति औड़व-औड़व है। वादी धैवत तथा संवादी गंधार होता है परंतु कुछ विद्वानों के अनुसार संवादी ऋषभ है।

गायन-समय प्रातःकाल हैं। इसमें ऋषभ, धैवत भैरव के समान ही आंदोलित होता है।

आरोह- सा रे ग, प, ध ऽ सां

अवरोह - सां ध ऽ प, ग, रे सा

पकड़ - सां ध ऽ प, ग प ध प ग ऽ रे ऽ सा

राग विभास तीन ताल (मध्यलय)

स्थायी

सां सां ध प ग प ध प ध प ग पग रे - सा सा
ध रो म न नं द न ऽ द न को ऽऽ ध्या ऽ ऽ न
0 3 x 2

रे रे सा रे ग ग प प ध प ग पग रे - सा सा
म न मो ऽ ह न गि रि ध र न टऽ ना ऽ ग र
0 3 x 2

प ग प ध सां सां रें सां रें सां ध प गप धप गरे सा-
श्याऽ म सुं द र सु ख धा ऽ ऽ ऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ मऽ
0 3 x
2

अंतरा

ध ऽ प ध सां - सां सां सां - सां सां रें - सां सां
रा ऽ धे ऽ कृ ऽ ष्ण र टो ऽ नि सि वा ऽ स र
0 3 x 2

सारें गं रें सां रें सां ध प धसां रेंसां धप गप धप गप गरे सा-
साऽ ऽ स्व त आ ऽ नं द धाऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ मऽ
0 3 x
2

संदर्भ :

1. रामरंग रामाश्रय झा, अभिनव गीतांजली, भाग-1
2. पं. रामवृक्ष सिंह (अपने गुरू) के गुरूमुख से प्राप्त
3. पं. रामवृक्ष सिंह (अपने गुरू) के गुरूमुख से प्राप्त

अख्तरी बाई से बेगम अख्तर तक का सफरनामा

डॉ0 पुष्पम नारायण

महिला गायिकाओं में बेगम अख्तर का नाम अमर है। इनका जन्म 14 अक्टूबर 1914 ई0 को हुआ था। इनके पिता असगर हुसैन जज थे तथा अत्यंत ही गंभीर प्रकृति के थे। इनकी इच्छा अख्तर को संगीत की ओर जाने देने की नहीं थी। प्रारंभ में तो मां ने भी विरोध किया, पर बाद में उनका सहयोग मिला और तब गुप्त रूप से मामा के घर साधना होने लगी। प्रथम, गुरू-ज्ञान से उस्ताद अतामुद्दीन खां ने सींचा, बाद में उस्ताद वहीद खां ने भी ज्ञान दिया।

गजल सम्राज्ञी बेगम अख्तर के गाने का अंदाज अनूठा था। इनके अनेकों रिकार्ड बने, जो आज भी लोकप्रिय है। आज भी भारत के कोने-कोने में लोग बेगम अख्तर की गजलों के दीवाने हैं। मरणोपरांत 'पद्मभूषण' से इन्हें सम्मानित भी किया गया।

बेगम अख्तर के जीवन और सांगीतिक यात्रा क्रो दो भागों में बांट सकते हैं। पहला-अख्तरी बाई फैजाबादी एक नयी पीढ़ी की खोजी हुई महिला गायिका (जो प्रसिद्ध गायिका मुश्वरी बाई की बेटी थीं), जिसकी गजल जैसी ठुमरी के ऊपर तीक्ष्ण पकड़ थी और उनका आकर्षक व्यक्तित्व जिसने पूरे देश में उनके कला प्रेमियों की संख्या बढ़ायी। और दूसरा बेगम अख्तर के रूप में बहुत प्रसिद्ध बहुत प्रिय और इश्तियाक अहमद अब्बासी की बेगम साहिबा और लखनऊ की ठुमरी एवं गजल की रानी के रूप में। शादी के पांच वर्ष बाद जब उन्होंने दुबारा अपना संगीत कैरियर शुरू किया तो उन्होंने प्रसिद्धि की ऊंचाईयों को छुआ और अपने मियां के संगीत शागिर्दों और रिश्तेदारों की चहेती बन गयीं। उनके संगीत में दो बार बदलाव देखा जा सकता है। पहली बार जब वे 20 वर्ष की थी और दूसरी बार शादी के बाद। प्रारंभ में संगीत प्रशिक्षण में मां मुश्तरी बाई का योगदान था। उन्होंने वह सब किया जो कर सकती थी। उन्होंने बेगम अख्तर की इच्छा को प्रेरणा दी और बीबी को प्रसिद्ध उस्तादों के संरक्षण में संगीत शिक्षा दिलाई। लेकिन बचपन से ही संगीत के प्रति इनका विलक्षण आकर्षण था। जो गाना वे एक बार सुन लेती थी उसे याद रखने की उनकी क्षमता अमूल्य थी। छोटी बीबी चांद बाई के गानों और अभिनय की दिवानी थी। चांद बाई जो एक घूमने वाली नाटक कंपनी में नायिका थी और अपने भ्रमण के दौरान उन्होंने फैजाबाद में काम किया था। मुश्तरी बाई ने बीबी को पटना के उस्ताद अहमद खान के संरक्षण में अभ्यास के लिए रख दिया। ये एक प्रसिद्ध सारंगी वादक थे और प्रसिद्ध गायिकाओं जैसे आगरा की मलिका जान, और कलकत्ता की गौहर जान और दूसरी गायिकाओं का साथ देते थे। लेकिन उस्ताद ने बीबी की शिक्षा राग कामोद से शुरू की जो एक कठिन राग था। यह राग मुख्य रूप से उन्नत विद्यार्थियों को सिखाया जाता था वह लड़की केवल सरल रागों को ही सीखना चाहती थी। यहां बाद की शिक्षा उन्होंने उस्ताद गुलाम मोहम्मद खान से पायी लेकिन यह क्रम भी अधिक दिनों तक नहीं चला क्योंकि अभी वे शास्त्रीय संगीत के लिए भी पूरी तरह से तैयार नहीं हुई थी।

प्रत्येक वर्ष मुश्तरी बाई और बीबी मोहर्रम के अवसर पर फैजाबाद जाती थी वहां अख्तरी के मार्सिया और ताजिया गीत बहुत प्रसिद्ध हुए। उनकी

एसोसिएट प्रोफेसर, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

वार्षिक यात्रा के दौरान बीबी की सुरीली आवाज की उच्च प्रतिभा ने उस्ताद 'शेखावत हुसैन खान' को बहुत प्रभावित किया। शेखावत-भातखंडे विद्यालय, लखनऊ के सरोद के प्रोफेसर थे जो उनके पारिवारिक मित्र हो गए। अपने व्यक्तिगत प्रभाव के कारण उन्होंने पटियाला के 'अता मोहम्मद खान' जो तानरस खां घराने के प्रतिनिधियों को विश्वास में लिया और कहा कि वे बीबी को अपने संरक्षण में तालीम दें। उस्ताद अभ्यास और खड़ज भरने के ऊपर विश्वास करते थे। इसलिए सबसे पहले उन्होंने बीबी को अलंकार सिखाए जिससे वे शीघ्र ही ऊब गयीं। लेकिन एक दिन उन्होंने उस्ताद का गाना सुना जो बहुत मधुर था जिससे बीबी के हृदय में एकदम से बदलाव आया। बहुत सालों बाद जब वे प्रसिद्धि की ऊंचाई पर थीं तब उन्होंने कहा था-"क्या मैं मूर्ख थी। पहले मैंने उनकी उपयोगी सीख पर ध्यान नहीं दिया और उसे बोझ महसूस किया। लेकिन आज मेरा हृदय मेरे उस्ताद के लिए कृतज्ञता से भरा है जिन्होंने बड़े धैर्य से मेरी आवाज को सुधारा और उसे सुरीला बनाया।"[1] उस्ताद अता मोहम्मद खान उनके साथ रहने लगे और उनकी तालीम लगातार तब तक चलती रही जब तक वे मां बेटी कलकत्ता में नहीं रहने लगी। बेगम अख्तर अब बहुत दिनों तक निर्धनता और अभाव का जीवन जीने में असमर्थ थीं इसलिए उन्होंने अपनी मां और उस्ताद की आज्ञा की अवहेलना करते हुए अपना पहला ग्रामोफोन रिकार्ड कराया। उनकी गजल 'वो आसिरे दाने' बहुत प्रसिद्ध हुई और ग्रामोफोन कंपनी ने फिर उनकी ठुमरी दादरा और गजल आदि को भी रिकार्ड किया उनकी मधुर आवाज ने संपूर्ण युवा पीढ़ी को संगीत का दीवाना बना दिया, और उनके तत्कालीन रिकार्ड विभिन्न रेडियो और व्यक्तिगत संग्रहों में सुने जाने लगे थे "दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे" "कोयलिया मत कर पुकार" "जिया मोरा लहराए" "अबके सावन घर आजा" "जब से श्याम सिधारे" आदि स्थायी रूप से प्रिय हो गए और उनके गीतों ने उस समय के शिखर के संगीतज्ञों पं0 भीमसेन जोशी, पं0 जशराज, स्व डॉ0 बसंतराव देशपांडेय, श्रीमती शोभा गुर्टु और अनेक संगीतज्ञों को प्रभावित किया। लखनऊ का उनका एक प्रशंसक इनता पागल हो गया कि उसने उनकी प्रशंसा सम्मान में सड़कों पर उनका नाम लिख डाला।

सन् 1934 ई0 से जब वह जनसंपर्क में आई तब उनकी एक चतुर शिष्या ने उस्ताद अता मो0 खान के कहने पर उन्हें जबरदस्ती स्टेज पर उतारा। अतः मोहम्मद ने बिहार के भूकंप पीड़ितों के लिए धन इकट्ठा करने के लिए एक बड़े कार्यक्रम का आयोजन किया था जिसमें मिलों दूर तक भीड़ इकट्ठी हुयी थी। उस कार्यक्रम में गिने चुने हुए संगीतज्ञों और उस्तादों को आना था, वे नहीं पहुंचे इसलिए श्रोतागण निराश लौट गए। बाद में अख्तरी ने स्वीकार किया कि जब उसे मंच पर लाया गया था तो वह उस तितली की तरह महसूस कर रही थी जो अपने पंखों के पानी मे भींग जाने के कारण फड़फड़ा रही है। लेकिन जब वे एक बार मंच पर आयी और उन्होंने अपनी पहली गजल गायी जिसके बोल इस प्रकार हैं-"तूने हरजाई, कुछ ऐसे अदा पायी, ताकता है तेरी सूरत हर एक तमाशाई" जब उन्हेांने यह गजल गायी तो वहां इकट्ठा श्रोतागणों उनकी प्रशंसा के साथ तालियों की बौछार कर दी, और बार-बार गाने के लिए कहा और उन्हें शांत होने की अनुमति तब मिली जब वे पांच गजलें दादरा गा चुकी थी।"

उस समय खादी की साड़ी में वे बहुत अच्छी लग रही थी। यह साड़ी सरोजनी नायडू ने उन्हें उपहार में दी थी। वे उनकी संगीत कला की प्रशंसक थी। इसके बाद वे अनुपम रूप से अख्तरी बाई फैजाबादी के नाम से प्रसिद्ध हो गई। वे दोनों मां बेटी कलकत्ता में 28 रिपन स्ट्रीट में रहती थी। यहां पर नैना देवी ने उनके गीतों को सुना और वे उनकी मित्र हो गयी। कई सालों के बाद वे लोग साथ-साथ कश्मीर में छुट्टियां मनाने गईं। वहां वे लोग हाउस बोट में ठहरीं। नैना देवी एक कभी न भूलने वाली चांदनी रात का वर्णन करते हुए कहती हैं कि उस रात बेगम अख्तर बिना रूके लगातार सारी रात अपने हाउसबोट में गाती रहीं।[2]

कुछ समय के लिए वे अभिनय से जुड़ गई और कलकत्ता के कोरियन भीयन थियेटर और 'पारसी थियेटर' की प्रसिद्ध अभिनय गायिका हो

गयी। 1933 ई0 में आग्रा मुशी की नाटक कंपनी के साथ जब वे पहली बार लखनऊ आयी तो उन्होंने कई नाटकों जैसे- लैला-मजनू, नयी दुल्हन आदि में मुख्य अभिनय करनेवाली तथा गानेवाली नायिका की भूमिकाएं निभायीं। तब फिल्म निर्देशकों ने उन्हें अभिनय के चकाचौंध भरे संसार में आने के लिए तथा दूसरों से स्पर्धा के लिए लुभाया। 1933 ई0 से 1944 ई0 तक उन्होंने कई फिल्मों में काम किया जैसे - एक दिन की बादशाहत (1933 ई0), जवानी का नशा (1935 ई0), नसीब का चक्कर (1936 ई0) और रोटी (1942 ई0) में जो महबूब खान द्वारा निर्देशित थी, में काम किया, रोटी का संगीत बहुत हिट हुआ। बहुत सी फिल्मों में उन्होंने पार्श्वगायिका की भूमिका निभायी जैसे-एहसान, दानापानी आदि। आखिरी फिल्म जिसमें उन्होंने काम किया था वह सत्यजीत रे की 'जलसाघर' थी। जब वे अपने फिल्मी कैरियर में ज्यादा व्यस्त हो गयी तब उन्होंने ध्यान देना कम कर दिया था। इस पर उस्ताद अता मोहम्मद खान ने दुखी होकर चेतावनी दी कि उन्हें अभिनय या गाने में से किसी एक को चुनना होगा और इसके बाद वे उनके यहां से चले गए। भाग्यवश उस समय अख्तरी ने कभी न भुलाने वाले गायको को सुना जैसे-मौजुद्दीन (ठुमरी और दादरा के बादशाह), जद्दनबाई (नरगिस की मां), गौहर जान, मलिका जान आदि। इससे प्रभावित होकर वे पुनः शास्त्रीय संगीत और सुगम संगीत की ओर उन्मुख हुई और उन्होंने पुनः से अपना अभ्यास शुरू कर दिया। अभिनय से अलगाव के और भी कई कारण थे उनमें से एक यह था कि जब हैदराबाद के निजाम ने उन्हें दरबार में गाने के लिए आमंत्रित किया और उन्होंने अख्तरी से 15 दिनों की छुट्टी लेकर आने का अनुरोध किया जिसे थियेटर वालों ने मना कर दिया तब उन्होंने हैदराबाद जाने और निजाम के दरबार में गाने के लिए अपना त्यागपत्र दे दिया और वहां से भारी कीमत, उपहारों तथा प्रसिद्धि और सम्मान के साथ वापस आयी। वे उस समय कई दरबारों जैसे-ओरछा, हैदराबाद, रामपुर आदि की प्रिय गायिका थी।वे रामपुर दरबार की प्रसिद्ध राजगायिका हो गई जहां उन्हें भारी भरकम उपहारों और ऊंची धनराशि से नवाजा गया। फिर वे अपनी मां के साथ लखनऊ में रहने लगीं। यह उनके भाग्य का ही खेल था कि वह उन्हें इस संगीतमय शहर में लाया जो अपनी नवाबी तहजीब, व्यापक संस्कृति और विलासिता के लिए प्रसिद्ध है। भाग्यवश यहां उनकी मुलाकात लाहौर के उस्ताद वाहिद खान से हुई जो किराना घराना के थे। उन्होंने अख्तरी बाई को शार्गिद बनाकर शिक्षा देना स्वीकार किया और अंत तक वे उनकी शिष्या रहीं। यह उनकी गायिकी ही थी जिसने उनके गायन को इतना प्रसिद्ध कर दिया था। इसके बाद फिर उनके जीवन में परिवर्तन आया। इस समय उनके पास शोहरत, दौलत एवं सफलता सब कुछ थी। लेकिन वे एक साधारण महिला का जीवन जीना चाहती थी। वे एक उनकी देखभाल करने वाला पति, एक बच्चों से भरा घर जिसकी वे देखभाल करें, चाहती थीं। लखनऊ में उस समय पार्टी देकर लोगों का स्वागत करना शान मानी जाती थी। अख्तरी और इश्तियाक अहमद अब्बासी की पहली मुलाकात लखनऊ के 'बार एटला' में हुई वहां उनके एक मित्र ने एक बड़ी डिनर पार्टी आयोजित की थी जो नानपुर के राजा थे। अहमद साहब को एक चीज ने बहुत प्रभावित और आश्चर्य चकित किया कि अख्तरी उस समय प्रसिद्धि और वैभव की ऊंचाई पर थी और उनके प्रशंसकों की चारों तरफ भीड़ लगी थी। फिर भी उन्होंने उनलोगों की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दिया। अब्बासी का ध्यान उन्होंने यह कहकर अपनी ओर खींचा कि एक औरत का सच्चा सुख एक अच्छे पुरूष की प्रिय पत्नी बनने में है और आगे उन्होंने कहा कि इसके लिए मैं अपना पूरा कैरियर छोड़ने के लिए तैयार हूं। उनकी इस बात ने अब्बासी का ध्यान अपनी ओर खींचा और फिर वे आगे बोले कि तुम्हारा मतलब है कि शादी के लिए तुम अपने सफल कैरियर को छोड़ दोगी। अख्तरी बाई के उत्तर ने अब्बासी को आश्चर्य चकित कर दिया जब उन्होंने कहा - हां मैं शादी के लिए ये सब छोड़ दूंगी। उन्होंने कहा मैंने अपनी शादी करने का मन बना लिया है और मैं एक व्यक्ति से स्वयं शादी करना चाहती हूं। अब्बासी यह सुनकर स्वयं लौट आए और इस सबको मजाक समझकर भुला दिया।

अब्बासी का बार एटला एक सुसंस्कृत और जमींदार परिवार के रूप में दूर-दूर तक जाना जाता था। अब्बासी एक प्रसिद्ध वकील, एक आकर्षक वक्ता, उर्दू कविता और संगीत के कर्णधार थे। यद्यपि अब्बास ने अख्तरी बाई की उक्त बात को मजाक समझकर उड़ा दिया था वह यह नहीं जानते थे कि अख्तरी यह गंभीर होकर कह रही है। तब अख्तरी ने अपने दिल की बात 'सायदा बानो जो अब्बासी की बहन की तरह थी से कहीं और उसे विश्वास दिलाया कि यह सब हकीकत है। जब सायदा बानो उनके पास यह संदेश लेकर गयी तो पहले उन्हें यह बात पूरी तरह से असंगत लगी। उन्होंने सोचा कि वे एक पेशेवर गायिका से शादी करने के लिए अपने परिवार की मान-मर्यादा कैसे छोड़ दे। अब धीरे-धीरे अख्तरी का एक तरफा प्यार अब्बासी के हिंसक पारिवारिक विरोधों के कारण खत्म होने लगा। और तब यह कहा गया कि उनके प्यार का आखिरी निताक भी अब्बासी के विरोध से पूरी तरह टूट गया। और तब अख्तरी ने अपनी महफिल में एक दादरे के दर्द भरे बोलों के द्वारा अपने हृदय का दुख उड़ेल डाला। बोल इस प्रकार से थे-

"कोयलिया मत कर पुकार, करेजवा लागे कटार।
जाय पिया के देश, उनको देना ये संदेश।
तुम बिन लिया जोगिया वेष, तज दिया संसार रे।
मधुर मधुर तोरे नैन विरहन के हैरत चैन।
भर भर आवत है नैन, हूक उठत बार बार।।

अख्तरी बाई जी हमेशा बहुत दुख के साथ इस गीत को गाती थी। लेकिन उस रात उन्होंने इस गीत को गाकर अपने हृदय का पूरा दुख उड़ेल दिया और उस रात के बाद उन्होंने फिर कभी इस गीत को नहीं गाया। क्योंकि इस गीत को सुनकर अब्बासी का हृदय परिवर्तित हो गया और वे तमाम विरोधों के बावजूद अख्तरी से विवाह करने को तैयार हो गए। 20 अक्टूबर 1942 ई0 को उनकी कोर्टशिप ने निकाह का स्थान लिया। उनके ऑफिस हालवाजिया लखनऊ में उनका निकाह कुछ खास दोस्तों और गवाहों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ। अब अख्तरी बाई फैजावादी बेगम अख्तर बन गयी। और इस नये नाम से उन्होंने बाद के वर्षों में खूब नाम और सोहरत पायी। अपनी शादी के कुछ वर्षों के बाद उन्होंने अपना गाना पूरी तरह से बंद कर दिया और आनंद के साथ रहने लगी। वह आनंद के साथ घर की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर परिवार रही थी और उन्होंने परिवार का दिल जीतकर प्रशंसा प्राप्त की। घर के सभी लोग उन्हें पसंद थे और वे परिवार में बच्चों के एवं युवाओं के 'अच्छी अम्मी' के नाम से जानी जाती थी। समय के बाद लगभग चार वर्षों के बाद उनके कुछ मित्र आए खाने-पीने के बाद उन्होंने किया कि कोयल कहां है बिना उसकी मधुर आवाज जो दर्द भरे गीत बनकर फूटेगी नहीं तो यह महफिल कैसे पूरी होगी। गाने के लिए प्रेरित करने पर अख्तरी के हृदय में एक लहर दौड़ गयी। लेकिन उन्होंने अपनी इच्छाओं को दबाए रखा क्योंकि गाने का उन्होंने अपने पति से वादा किया था।

उनके जीवन में बदलाव आया जब उनकी की मृत्यु हो गयी, उनकी मृत्यु बेगम अख्तर को इतनी निराशा में ले गई कि डॉक्टरों को भय था कि वे कहीं पागल न हो जाए। उनके चिंतित पति को डॉक्टरों ने सलाह दी कि केवल संगीत ही उनको इस दुख से बाहर निकाल सकता है।

कुछ समय बाद उनके घर पर एक छोटी सी डिनर पार्टी आयोजित की गयी जिसमें कुछ चुने हुए मित्र, न्यायाधीश, वालफोर्ड, एल.के. मल्होत्रा (तब वे ए.आई.आर. स्टेशन में निर्देशक थे) और गुलाम शाबीर जो एक प्रसिद्ध सारंगीवादक और कानपुर के प्रसिद्ध गायक थे। मि0 मल्होत्रा ने उनसे एक गाना गाने के लिए अनुरोध किया पर उन्होंने यह कहकर मना कर दिया कि मैंने अब गाना छोड़ दिया है। कुछ दिनों के बाद वे गाने के लिए तैयार हो गई। उन्होंने मल्होत्रा जी से मिलने के लिए उन्हें फोन किया। ए0आई0आर0 स्टूडियो से एक कार उन्हें लेने आयी वहां उन्होंने अपने कुछ गाने सुनाए जो उन्होंने रिकार्ड किये थे। अपने पार्श्वगायन सुनकर उनकी आंखों से आंसू छलक गए। शायद भूली हुई कला के जागने पर उन्हें आराम मिला था और इसके बाद फिर अब्बासी 1948 ई0 में आकाशवाणी में उनके पुनः आगमन के लिए तैयार हो गए और

उनके समारोह लखनऊ के अलावा चारों ओर होने लगे। उन्होंने अब्बासी जी से वादा किया था कि लखनऊ के अलावा वे हर जगह गाएंगी और यह क्रम सारी जिंदगी चला। ए0आई0आर0 के समाचार पत्र में पहली बार उनका नाम 'अख्तर इश्तियाक' छपा और बाद में 'बेगम अख्तर' और फिर वे इसी नाम से प्रसिद्ध हो गई। ए0आई0आर0 स्टूडियो में उनके समारोह आकाशवाणी और टेलिकास्ट के लिए एल0पी. डिशेज की रिकार्डिंग का कार्य लगातार चलता रहा। वे उस समय की सबसे व्यस्त कलाकार थी। और यह क्रम उनके जीवन के आखिरी समय तक चला। उनके पति के शब्दों में - शादी के बाद उनके संगीत में एक नयी मधुरता आयी। वे प्रत्येक शब्द के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंतर में भी पूर्ण ध्यान देने लगी और उनमें अंतर करके गाती। मेरे घर से जाने के बाद वे घर पर रियाज करती थी और बाद में उन्होंने घर पर ही अपने कुछ शिष्यों, यथा शांति हीरानंद, अंजली बनर्जी, रीता गांगुली आदि को अपने बच्चों की तरह मानकर संगीत शिक्षा देना शुरू कर दी।

मुन्ने खां के अनुसार वे दीपचन्दी और चांचर तालों में ठुमरी गाना पसंद करती थी। स्वर का ज्ञान उन्हें शास्त्रीय संगीत के अता मोहम्मद खान, बहरे वाहिद खान किराने वाले से प्राप्त हुआ। इन लोगों ने अख्तरी को ठुमरी, दादरा और गजल को अलग-अलग राग-रागिनियों में अवसर और मूड के अनुसार गाना सिखाया। उन्होंने इसे कुछ श्रेष्ठ रागों जैसे - कलावती, नारायणी, भीमपलासी, कौंसी कानड़ा, चन्द्रकौंस आदि रागों में भी गाया। उन्हें लखनवी ठुमरी की रानी के पद से नवाजा गया। जब लखनऊ के भातखंडे कॉलेज में शास्त्रीय संगीत का विभाग खोला गया तो 'बेगम अख्तर' को प्रोफेसर का पद ग्रहण करने के लिए कहा गया और वे तैयार हो गई। वहां पर प्रवेश पाने वालों की भीड़ हो गयी। उनका कार्यकाल वहां उत्कर्ष पर था। अधिकतर उन्हें लखनऊ से बाहर रहना पड़ता था और उन्हें सिखाने के लिए बहुत कम समय मिलता था। जिससे विद्यार्थियों में थोड़ी निराशा हुई। उनके यहां आधा दर्जन शिष्य-शिष्याएं रहती थीं और जब वे सिखाने के मूड में होती थी तो उन्हीं को सिखाती थीं। उनकी मधुर आवाज खनकदार हंसी, हीरे की नाक की कील जो चेहरे पर चमकती थी। उनके हाथ की बहुमूल्य अंगूठी, उनके ढीले घुंघराले बाल और उनका आकर्षक व्यक्तित्व किसी भी व्यक्ति को आकर्षित कर लेता था।

उन्हें कई सम्मान प्रदान किये गए जैसे 1972 ई0 में सेंट्रल संगीत नाटक अकादमी अवार्ड, 1973 ई0-74 ई0 में यूपीएसएन अकादमी अवार्ड, मरणोपरांत 1978 ई0 में पद्मश्री पुरस्कार तथा पद्मभूषण अवार्ड आदि। उन्हें भारत सरकार की ओर से भारतीय सांस्कृतिक कार्यक्रमों का प्रतिनिधि बनाकर 1961 ई0 में पाकिस्तान, 1963 ई0 में अफगानिस्तान, 1967 ई0 में यूएसए भेजा गया। जब उन्होंने करांची में अपना दादरा ''हमरी अटरिया में आयो सजनवा, सारा जगत खतम होई जाए'' गाया तो श्रोतागणों में सनसनी भर गई और उन्होंने हजारों लोगों के दिल को जीत लिया। उनके दर्जनों एल0पी0 डिसेज और कैसेट बहुत ही गर्मजोशी से बिके और उनकी लोकप्रियता पूरे देश में फैल गयी।

उपशास्त्रीय संगीत की अद्वितीय गायिका के रूप में बेगम अख्तर ने ठुमरी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने पूरब एवं पंजाब की मिश्रित गायकी का प्रयोग प्रारंभ किया। अपने ठुमरी गायन में पूरब अंग के बोल बनाब की सादगी एवं पंजाब अंग के स्वर वैचित्र्य का अनूठा मिश्रण कर ठुमरी को नवीन सौन्दर्य प्रदान किया। उनकी गायी अनेक ठुमरियों के रिकार्डस से उनकी इस नवीन मिश्रित शैली को सुना जा सकता है, यथा-ननदिया काहे मारे बोल, निहुरे-निहुरे बहोरे (45.7 ई0पी0ई0 1229) सोवत निदिया, पिया मिलन हम जाना (78-जे0एन0जी0 820), 'न जाओ परदेश' (राग खमाज, ठुमरी), तुम जाओ मोसे न बोलो (एल.पी. -पी.डी.वाई. 2392-838) वे अपनी ठुमरियों के बीच-बीच में उर्दू भाषा के शेर भी कहती थी।[3]

उत्साही जीवन, कठिन परिश्रम तथा निरंतर यात्राओं से उनकी सेहत गिरती गयी। बेगम अख्तर को दो गंभीर हार्ट अटैक पड़े इसके बाद डॉक्टरों ने उन्हें यात्रा करने के लिए मना किया और आराम करने के लिए कहा। उनके सभी मित्रों ने, रिश्तेदारों ने तथा प्रशंसकों ने उनके मियां से प्रार्थना की कि वे

उनके कार्य की गति धीमी करें। लेकिन यह उनकी बचपन से ही चाहत थी और वे इसे हमेशा मजाक में कहती थी कि मैं गाते हुए मरना चाहती हूं और वास्तव में ऐसा ही हुआ। अपने सभी शुभ-चिंतकों और डॉक्टरों के मना करने के बावजूद भी बेगम साहिबा ने आखिरी और प्राणघातक लम्बी कार्यक्रम यात्रा स्वीकार कर ली जो बाम्बे, दिल्ली, अहमदाबाद, बड़ौदा और अन्य जगहों पर थी। जब वे रेडियो स्टेशन में अपनी पूर्व रिकॉर्डिंग के लिए आयी तो वे बहुत थकी हुई और निराश दिख रही थी। जब उन्होंने लखनऊ छोड़ा था सभी मेडिकल चेतावनियों के बावजूद भी वे दिल्ली और बाम्बे गयी और वहां अपने 'सावन गीत' गायीं। इसके बाद वे अहमदाबाद गयीं और वहां पर कार्यक्रम के बाद श्रोताओं की भीड़ के सामने ही 28 अक्टूबर 1974 ई0 को उन्हें तीसरा बड़ा हार्ट अटैक पड़ा और वे वहां के 'इंटेसिव केयर यूनिट हॉस्पीटल' में भर्ती की गई। इस समय वे 60 वर्ष की थीं। वे और लंबे समय तक जीवित रह सकती थीं लेकिन उन्होंने अपनी प्राणघातक यात्राएं बंद नहीं की। सभी चिकित्सीय प्रयासों के बाद भी बेगम अख्तर की आवाज 30 अक्टूबर, 1974 ई0 की रात को हमेशा के लिए शांत हो गयी। संगीत का संसार अंधकार में डूब गया। उनके पति उस समय उनके पास नहीं पहुंच सके लेकिन उनके बहनोई मुख्तार अहमद अंतिम समय में उनके पास थे। उनका पार्थिव शरीर एक विशेष विमान द्वारा दिल्ली लाया गया। इसका इंतजाम उनके मित्र अरविन्द पारिख ने किया। (जो एक बिजनेसमैन और सितार वादक उस्ताद 'विलायत खान' के शिष्य) उनके दुखी पति उनके कौफिन को दिल्ली से लखनऊ लाए और प्रशान्त बाग ठाकुरगंज लखनऊ में उनकी मां मुश्तरी बाई की कब्र के बगल में उन्हें दफना दिया गया।

प्रत्येक वर्ष 'यूपी संगीत नाटक अकादमी' अक्टूबर में उनकी याद में दो सभा आयोजित करती है जिसमें गजल, दादरा और ठुमरी के कलाकार आते हैं और उनके सम्मान में गाते हैं।

संदर्भ :

1. द्विवेदी पूर्णिमा, ठुमरी एवं महिला कलाकार, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 2009 ई0, पृ0 203
2. द्विवेदी पूर्णिमा, ठुमरी एवं महिला कलाकार, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 2009 ई0, पृ0 204
3. द्विवेदी पूर्णिमा, ठुमरी एवं महिला कलाकार, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 2009 ई0, पृ0 210

भारतीय संगीत के सफर के सौ वर्ष

अल्पना

भारतीय संगीत के इतिहास में बीसवीं शताब्दी को क्रान्तिकारी शताब्दी के रूप में देखा जाता है। क्या गायकी, क्या वादन-शैली, क्या रागदारी, क्या शास्त्रीय चिन्तन, क्या शिक्षण-प्रणाली, क्या प्रचार-प्रसार, क्या मंच-प्रदर्शन, क्या लेखन, क्या प्रकाशन और नवीन सृजन, सब दिशाओं में भारतीय संगीत में इस शताब्दी ने नये युग का सूत्रपात किया है। यह नया युग संगीत की शास्त्रीय परम्पराओं में ही नहीं, लोक-संगीत, फिल्म-संगीत, नाट्य-संगीत, सुगम-संगीत जैसी शास्त्रेतर विधाओं में भी पूरी ऊर्जा के साथ प्रकट हुआ है। शास्त्रीय संगीत की परम्पराओं में उत्तर भारतीय यानी हिन्दुस्तानी संगीत-शैली तो इस शताब्दी में भारी परिवर्तनों के दौर से गुजरी ही है, पर दक्षिण भारतीय यानी कर्णाटक संगीत जैसी अत्यधिक परम्परा-प्रिय संगीत शैली भी इस सदी में जरूरी परिवर्तनों से अपने आपको बचा न सकी।

हिन्दुस्तानी संगीत में, खासतौर से अशिक्षित वर्ग में, यह धारणा है कि हमारा संगीत वैदिक युग से चला आ रहा है और आज जो कुछ हम गाते-बजाते हैं वह हमारे पुरखों का संगीत है। यानी जिसे हम उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत कहते हैं, वह पूरी तरह परम्परा से बंधी हुई ऐसी चीज की जिसमें गुंजाइश ही है। प्रमाण के लिए ध्रुपद-गायकों द्वारा आमतौर पर किये जानेवाले दावों को देखा जा सकता है। चार-पॉच सौ साल पुरानी ध्रुपद-गायकी को सीधे तीन-चार हजार साल पुराने वेदों से जोड़ने में वे जिस गर्व का अनुभव करते हैं, उससे उनके भोलेपन का एहसास होता है। ध्रुपदिये ही नहीं, आपको कई खयाल गायक भी ऐसे मिल जायेंगे, जो आज गाये-बजाये जानेवाले रागों को पक्के तौर पर वैदिक युग की देन मानते हैं। कई वादकों में भी इसी तरह की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। सितार और सरोद वादकों का एक बड़ा वर्ग ऐसा है, जो चार-पांच सौ साल पुराने तानसेन से सम्बद्ध सेनिया घराने से किसी न किसी तरह अपने आपको जोड़ डालता है।

पुराने के प्रति ऐसा मोह हमारे शास्त्रीय संगीत के खास-चरित्र को दर्शाता है, यानी यह ऐसा संगीत है, जिसमें परम्परा से चली आती हुई चीजों को काफी सम्मान दिया जाता है, उन्हें मरने से बचाने की पूरी कोशिश की जाती है। नयापन यहां आसानी से गले नहीं उतरता।

साहित्य तथा दूसरी कलाओं में ऐसी स्थिति नहीं है। वहां नये प्रयोगों और नये आंदोलनों को उस तरह हेय नहीं समझा जाता। यही वजह है कि दूसरी कलाओं में जहां लोकतन्त्रीय सोच के दर्शन होते हैं, वहीं शास्त्रीय संगीत में आज भी 'फ्यूडल' यानी सामन्तवादी मानसिकता बड़े पैमाने पर छायी हुई है। गुरू-शिष्य-परम्परा की सीना-ब-सीना तालीम, गुरूओं का शिष्यों के प्रति तानाशाही रवैया, शिष्यों के हृदय में गुरू को भगवान जैसी प्रतिष्ठा दिलाने की कोशिश, ज्यादा मेहनत के बावजूद कम फल प्रदान करनेवाले रियाज के अवैज्ञानिक तरीके, संगीत को भगवान की प्राप्ति का साधन समझनेवाली मानसिकता, इत्यादि कुछ ऐसे तत्व हैं, जो हिन्दुस्तानी संगीत के सामन्तवादी चरित्र का पक्का सबूत देते हैं।

एम०ए०, नेट संगीत वादन-सितार, आगरा

हिन्दुस्तानी संगीत का भीतरी स्वरूप भी उसके सामन्तीय होने ही गवाही देता है। आलाप के जरिए राग के एक-एक सुर की पैड़ी-दर-पैड़ी बढ़त करते हुए देर तक राग की परतों को खोलना, बंदिशों में राग-रहस्यों को सूत्रबद्ध करना, तानों के चमत्कारी भेद-प्रभेदों से श्रोता को चकित कर देना, लयकारी और तिहाइयों के गणित में श्रोता को उलझा देना, मुख्य गायक या वादक की प्रधानता और संगतकारों की गौणता को स्थापित करना, इत्यादि ऐसे तत्व हैं, जिनसे हिन्दुस्तानी संगीत का सामन्तीय चरित्र साफ प्रकट होता है।

लेकिन परम्परा को ज्यों का त्यों अपनाने का हम कितना ही स्वांग क्यों न करें, हम अपने शास्त्रीय संगीत को बदलने से न पहले कभी रोक पाये हैं, न आगे रोक पायेंगे। सच तो यह है कि परम्परा कभी ज्यों की त्यों अपनायी ही नहीं जाती। परम्परा जब मर जाती है, तब रूढ़ि के रूप में भले ही उसे ज्यों का त्यों अपनाया जा सकता है। परम्परा हर उस पुरानी चीज को संजोकर रखती है जो जीवन्त है और हर उस नए तत्व को आत्मसात् करती है जो उसे नए समाज के अनुकूल बनाता है।

बीसवीं सदी में हिन्दुस्तानी संगीत को सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाले मुख्य रूप से दो कारण रहे हैं: पहला है वैज्ञानिक खोजों से उत्पन्न टेक्नोलॉजी का विकास; और दूसरा, शहरी संस्कृति का विकास और गांवों का पतन।

टेक्नोलॉजी के बहुमुखी विकास ने हिन्दुस्तानी संगीत को कई तरह से प्रभावित किया। खासतौर से ग्रामोफोन रिकॉर्ड और रेडियों के आगमन से संगीत की वह चहारदीवारी ढह गई है, जिसे घरानों के रूप में सामन्तीय समाज ने बड़े जतन से संजोकर रखा था। घरानेदार उस्ताद अपने शागिर्दों को शिक्षण-काल के दौरान अन्य घरानों की गायकी सुनने से महरूम रखते थे। इसका नतीजा यह होता था कि शागिर्द अपने उस्ताद के घराने की विशेषताओं को ही आत्मसात् करता था। दूसरे घरानों की गायकी का प्रभाव उसकी गायकी पर नहीं आ पाता था। इस तरह अलग-अलग घरानों की अपनी खासियत उन घरानों के अपने-अपने गायक-वादकों में सुरक्षित रहती थी। लेकिन रेडियो के आ आने से घरानों की यह शुद्धता बचाये रखना नामुमकिन हो गया। सब तरह के गायक-वादकों को सुनना रेडियो ने सुलभ बना दिया। जाहिर है, ऐसे में दूसरे घरानों की आकर्षक बातों से अपने शागिर्दों को बचाना किसी भी घराने के लिए सम्भव नहीं रह गया। यही वजह है कि आज के कलाकारों की गायन अथवा वादन की शैलियों में लगभग एकरूपता दिखाई देती है। घराने से अपने आपको जोड़ना कलाकारों के लिए यू तो आज भी गर्व की बात है, लेकिन उनका यह गर्व नाम के लिए ही है। अपनी गायकी में केवल अपने घराने की विशिष्टता का दावा आज की युवा पीढ़ी का कोई कलाकार नहीं कर सकता।

टेक्नोलॉजी के विकास से शास्त्रीय संगीत की शिक्षण-पद्धति पर भी काफी असर पड़ा है। तालीम का पुराना तरीका स्मृति को बहुत महत्व देता था। सीना-ब-सीना तालीम में उस्ताद जो सिखाते थे, उसे वहीं बैठकर याद कर लेना पड़ता था। इससे मस्तिष्क की ग्रहणशीलता, सक्रिय रहने के कारण बढ़ती जाती थी। लेकिन टेपरिकॉर्डर के आ जाने से एक ही चीज को कई-कई बार सुनना सम्भव हो गया। इस सुविधा ने तालीम के वक्त शागिर्द की शिथिलता बढ़ा दी; क्योंकि वह जानता है कि टेप-रिकॉर्डर के माध्यम से वह गुरूजी की तालीम को बाद में सुनकर भी सीख सकता है। आज रिकॉर्डेड संगीत के रूप में संगीत के विद्यार्थी के पास संग्रह तो बहुत होता है, लेकिन उसके दिमाग का जो भण्डार है, वह पहले के शागिर्दों के मुकाबले काफी कम हो गया है।

मुद्रण के विकास ने भी शास्त्रीय संगीत के भण्डार को बढ़ाने में बहुत मदद पहुंचाई है। उस्तादों को ऐसी सैकड़ों दुर्लभ बंदिशें, जो योग्य शागिर्द न मिलने की वजह से उस्ताद के साथ ही चली जाया करती थीं, आज स्वरलिपि के कारण हमें सहजता से उपलब्ध हो जाती हैं। स्वरलिपि की इस क्रान्ति की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उस्ताद मौलाबख्श से हुई थी और बीसवीं सदी में पं. विष्णुनारायण भातखण्डे की सहज और सरल स्वरलिपि-पद्धति के रूप में हिन्दुस्तानी संगीत के समूचे शिक्षित जगत में छाई हुई है।

संगीत के लिए टेक्नोलॉजी की सबसे बड़ी देन है 'माइक्रोफोन'। बीसवीं सदी के शुरू में इस यंत्र के आ जाने से संगीत की अन्दरूनी दुनिया बहुत-कुछ बदल गयी। जो गाना-बजाना पहले कुछ ही श्रोताओं के बीच रहता था, वह अब माइक्रोफोन की वजह से बड़े श्रोतावर्ग तक पहुंचने लगा। रजवाड़ों के टूटने से यह बढ़ता हुआ श्रोतावर्ग आमतौर पर मध्य-वर्ग से आ रहा था। धीरे-धीरे इस नये श्रोता का दबाव पुराने संगीत पर बढ़ने लगा। पुराना श्रोता जहां राग के गूढ़ रहस्यों, विचित्र-विचित्र तिहाइयों, लय-ताल के गणितीय खेलों और दमदार तानों के चमत्कार पर मोहित रहता था, वहीं इस नए श्रोता को शास्त्र की जानकारी न होने के कारण संगीत का भाव-पक्ष ज्यादा आकर्षित करता था। बीस और तीस के दशकों में किराना घराने के उस्ताद अब्दुल करीम खां की लोकप्रियता इसका सबूत है। सदी के मध्य तक पहुंचते-पहुंचते मध्य-वर्ग के आम श्रोता की बढ़ती सक्रियता शास्त्रीय संगीत के कलाकारों को ऐसा संगीत प्रस्तुत करने के लिए मजबूर करने लगी, जिसमें व्याकरण के साथ-साथ सुनने वालों के दिलों को भी खींचने की ताकत हो। गायकों में पंडित ओंकारनाथ ठाकुर, उस्ताद बड़े गुलाम अली खां, उस्ताद अमीर खां, पंडित कुमार गन्धर्व, पंडित डी0वी0 पलुस्कर और वादकों में सारंगी-नवाज उस्ताद बुन्दू खां, सितारवादक पंडित रविशंकर और उस्ताद विलायत खां तथा सरोदवादक उस्ताद अली अकबर खां का उदय और विकास इसी दौर में हुआ। हिन्दुस्तानी संगीत में हृदय को आकर्षित करने ही यह ताकत इसीलिए पैदा हो सकी, क्योंकि माइक्रोफोन नाम का यह एक ऐसा यन्त्र अस्तित्व में आ गया था, जो आपकी फुसफसाहट तक को दूर बैठे श्रोताओं तक पहुंचा संकता था। पुराने उस्तादों को हर वक्त जोरदार आवाज में गाना पड़ता था। इससे कला भी भव्यता वाला पक्ष तो सामने आता था, लेकिन सूक्ष्म कारीगारी के लिए तब कोई गुंजाइश नहीं बन पाती थी। संगीत में बढ़ती संवेदनशीलता और कलात्मक नक्काशी वास्तव में माइक्रोफोन की ही देन हैं

रोजगार की सम्भावनाओं के बढ़ने से गांव के लोगों का शहरों की ओर पलायन इस सदी की महत्वपूर्ण घटना है। जो शास्त्रीय संगीत पहले छोटे-छोटे नगरों, कस्बों और गांवों तक में सुनने-सुनाने को मिल जाया करता था, वह धीरे-धीरे शहरों की तरफ खिंचता चला गया। इससे संगीत की विविधता खत्म होती गयी। श्रोता और कलाकार के बीच जो जीवन्त सम्बन्ध छोटी जगहों पर फलता-फूलता था, वह शहरों में आकर दोनों के बीच खाई के रूप में तब्दील हो गया। महानगरों के बड़े-बड़े समारोहों में सैकड़ो-हजारों श्रोताओं से भरे विशाल सभागारों के लिए कलाकार के प्रत्यक्ष होने का कोई खास अर्थ नहीं रह जाता। कला पर इस परिस्थिति का गहरा प्रभाव पड़ा है। पुरानी गोष्ठियों में जहां कलाकार को अपने द्वारा पेश की गई हर चीज की प्रतिक्रिया श्रोताओं की आंखों से महसूस हो जाती थी, वहां आज के कलाकार को श्रोता सभागार के अंधेरे में डूबे हुए मिलते हैं। इसीलिए पुरानी कला में कलाकारों का प्रदर्शन श्रोताओं की योग्यता-अयोग्यता और उनकी प्रतिक्रिया के हिसाब से खूब प्रभावित होता रहता था। लेकिन आज सभागार मे श्रोता आमतौर पर शान्त बैठते हैं, इस कारण अलग-अलग जगहों पर कार्यक्रम पेश करने के बावजूद कलाकार के प्रदर्शन में आज कोई खास बदलाव नहीं आ पाता। मतलब यह कि कलाकारों के प्रदर्शन में जहां श्रोताओं की पहले महत्वपूर्ण भूमिका होती थी, वहीं अब श्रोता की सक्रियता निरन्तर निष्क्रियता में बदलती जा रही है।

रजवाड़ों में शास्त्रीय संगीत के बाहर आने और मध्यवर्गीय श्रोताओं में प्रतिष्ठित होने के कारण आज शास्त्रीय संगीतज्ञों को अलग तरह की परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है। अब उसके आश्रयदाता राजा-महाराजा नहीं रह गये। भरे बाजार में उसे अपनी कला को बिकाऊ माल के रूप में पेश करना पड़ता है, दूसरे कलाकारों के साथ प्रतियोगिता के अखाड़े में कूदना पड़ता है। 'शोमैनशिप' की तरफ कलाकारों का बढ़ता रूझान इसका सबूत है। कला के स्वरूप पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। श्रोताओं को रिझाने के लिए अपनी वेशभूषा से लेकर रागों के प्रस्तुतीकरण तक हर बात में आज के कलाकार को व्यावसायिक दृष्टि से अपने आपको तैयार करना पड़ता है। एक राग को घण्टों गाने-बजाने की बजाय आज का कलाकार आधुनिक श्रोताओं को बांधे

रखने के लिए एक-डेढ़ घण्टे में ही कई-कई राग पेश कर देता है। पुराने संगीत में लयकारी के काम का बड़ा महत्व रहता था, लेकिन अब श्रोता की पहुंच से बाहर होने के कारण उसमें काफी कमी आ गई है। अब तबला-वादक के साथ लड़न्त-भिड़न्त और सवाल-जवाब की प्रवृत्ति काफी बढ़ गई है; क्योंकि इसके जरिए आम श्रोता को आसानी से आकर्षित किया जा सकता है।

आजादी के बाद हिन्दुस्तानी संगीत के कुछ पुराने वाद्य धीरे-धीरे लुप्त होते चले गये। सुरबहार और रूद्रवीणा के वादकों में आज इक्के-दुक्के कलाकार की बचे हैं। सारंगी के वादक अभी हैं जरूर, पर उनकी अब वैसी मांग नहीं रह गयी। पखावज जैसा ताल-वाद्य भी इन दिनों संकट में है। इस बीच कुछ नये वाद्यों का भी शास्त्रीय संगीत में उदय हुआ है। सन्तूर ने काफी इज्जत कमायी है। बॉसुरी और शहनाई ने भी शास्त्रीय संगीत में अपनी मजबूत पकड़ बना ली है। संगत-वाद्य के रूप में हारमोनियम ने सारंगी को जबरदस्त शिकस्त दे दी है। कुछ विदेशी वाद्य, जैसे गिटार, मैन्डोलिन, क्लेरियोनेट आदि भी इन दिनों प्रचार में आ गए है।

सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुस्तानी संगीत में ठुमरी ने जो स्थान बनाया था, वह स्वतन्त्रता के पच्चीस-तीस बरस तक ऊपर चढ़ता रहा। इक्का-दुक्का को छोड़ ऐसा कोई कलाकार न बचा, जो ख्याल गाने के बाद अपने कार्यक्रम का समापन ठुमरी से न करता हो। यहां तक कि वादकों ने भी ठुमरी बजाना शुरू कर दिया था। पर लगभग बीस साल से परिस्थिति फिर बदल गयी है। वाद्यों पर तो कलाकार अब भी ठुमरी-दादरा आदि बजाते हैं, लेकिन गायकों में अब ख्याल के बाद भजन गाने की प्रवृत्ति ज्यादा बढ़ गयी है।

बीसवीं सदी में ध्रुपद-गायकी पर भी संकट के बादल गहराते रहे हैं। ख्याल के वर्चस्व ने उसे ऊपर उठने का ज्यादा अवसर नहीं दिया। जहां तक गायकी का सवाल है, शुद्धता और बुलन्द आवाज की हिमायती ध्रुपद-गायकी को भी माइक्रोफोन की जादुई उपस्थिति को आगे कुछ हद तक समर्पण करना पड़ा है। धीमी आवाज और काकू के सूक्ष्म प्रयोग आज की ध्रुपद-गायकी को पुराने ध्रुपद से बहुत कुछ अल[illegible] कर देते हैं।

बीसवीं सदी में, विशेष रूप से स्वतन्त्रता [illegible] बाद, हिन्दुस्तानी संगीत में अनेक नई प्रवृत्तियों [illegible] जन्म लिया। व्याकरण-केन्द्रित बहिर्मुखी गायकी [illegible] जगह आत्मकेन्द्रित गायकी का विकास, बुलन्द आवा[illegible] की जगह कण्ठ-माधुर्य का बढ़ता महत्व, स्वर-लग[illegible] में संवेदनशील, बड़े ख्याल में अति-विलंबित [illegible] सरगम की तानों का बढ़ता प्रयोग, तैयारी [illegible] अति-द्रुतलय की ओर विशेष झुकाव, सितार-[illegible] आदि के वादन में तबले के साथ कलात्मक [illegible] आकर्षक सवाल-जवाब, कमजोर पड़ता रागों [illegible] समय-सिद्धान्त, मन्द्र सप्तक में बढ़ता काम, इत्या[illegible] कुछ ऐसी प्रवृत्तियां हमारे संगीत में उभरीं जिन्[illegible] सर्जनात्मकता के कई नए द्वार खोल दिए। अने[illegible] शास्त्रीय संगीतज्ञों का फिल्म-संगीत में योगदान [illegible] इस शताब्दी की उल्लेखनीय देन है। नब्बे के दश[illegible] में हिन्दुस्तानी संगीत के कुछ युवा कलाकारों [illegible] झुकाव 'फ्जूयन म्यूजिक' की तरफ भी दिखाई [illegible] है।

रागों के क्षेत्र में भी बीसवीं सदी में [illegible] उल्लेखनीय बदलाव आए हैं। कई राग जो अती[illegible] में लोकप्रिय थे, बाद में प्रचार से हटते चले गए; जै[illegible] हमीर, केदार, कामोद, भैरव, आसावरी, पूर्वी इत्यादि [illegible] कुछ रागों के स्वरूप में बड़ा परिवर्तन आया है, जै[illegible] राग चन्द्रकौंस के शुद्ध निषाद वाले स्वरूप [illegible] प्रचार, राग बिहाग में तीव्र मध्यम का विशेष प्रयो[illegible] राग ललित में कोमल धैवत वाले स्वरूप [illegible] लोकप्रियता। इसके अतिरिक्त अनेक नए रागों [illegible] निर्माण भी इस शताब्दी में हुआ। जोग या जोगकौ[illegible] नटभैरव, बैरागी, जनसम्बोधिनी इत्यादि अनेक [illegible] राग लोकप्रिय हुए। कर्णाटक संगीत के हेमाव[illegible] आभोगी, कीरवाणी और चारुकेशी जैसे राग कलाव[illegible] के कण्ठहार बने। कर्णाटक संगीतज्ञों ने भी उ[illegible] भारत के दरबारी कान्हड़ा और परज जैसे राग[illegible] अपने संगीत में शामिल कर लिया।

संगीत-क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण घटना है विद्या[illegible] तथा विश्वविद्यालयों से संगीत का एक विषय [illegible] रूप में जुड़ाव। यद्यपि विद्यालयीन संगीत-शिक्ष[illegible]

उद्देश्य क्या है, यह अभी तक हमारे नीति-निर्माताओं के सामने स्पष्ट नहीं है, फिर भी शास्त्रीय संगीत को लोकतन्त्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने में विद्यालयीन शिक्षा का महत्वपूर्ण हाथ है। इससे भले ही कलाकारों के निर्माण में ज्यादा सहायता न मिली हो, किन्तु समझदार श्रोताओं के रूप में एक बड़े वर्ग का निर्माण अवश्य हुआ है। संगीत के अध्ययन और विश्लेषण की जो परम्परा कई शताब्दियों से अवरूद्ध थी, उसे विश्वविद्यालयों की आधुनिक शिक्षण-पद्धति ने नए रूप में पुनर्जीवित किया। परिणामस्वरूप संगीत के कुछ नए क्षेत्र समाने आए। अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में संगीत-समीक्षा की शुरूआत हुई। संगीत-सम्बन्धी प्रकाशन भी बड़ी तादाद में होने लगे। अनेक महत्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ पाठकों को सुलभ हो गए। संगीत-सम्बन्धी कई पत्रिकाएं भी अस्तित्व में आ गई।

स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार का ध्यान संगीत की ओर गया। केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी-जैसी संस्था की स्थापना हुई। राज्यों में भी कई अकादमियां खुलीं। कुछ संस्थाएं व्यक्तिगत प्रयासों से भी प्रारम्भ हुईं। कलकत्ता स्थित आई0टी0सी0 की 'संगीत रिसर्च अकादमी' के अलावा 'स्पिक मैके' ने पूरे देश में काफी लोकप्रियता अर्जित की। इनके अलावा अनछुए और अनपहचाने हर उम्र के सैकड़ों संगीत-साधकों को मंच देकर संगीत जगत् में उनकी कला और चिन्तन को उचित प्रतिष्ठा दिलवाने के लिए 1989 ई0 में 'संगीत-संकल्प' नामक अखिल भारतीय संगठन का जन्म हुआ, जो अब एक देशव्यापी आंदोलन का रूप लेता जा रहा है। इन तमाम संस्थाओं के माध्यम से देश भर में शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में संरक्षण और शिक्षण से लेकर उसके प्रचार-प्रसार तक विभिन्न किस्म के महत्वपूर्ण कार्य हुए।

पिछले पच्चीस वर्षों में आकाशवाणी के अलावा दूरदर्शन और ऑडियों वीडियो कैसेटों व सी0डी0 ने भी शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में काफी योगदान दिया है। जो संगीत पहले कुछ संभ्रात श्रोताओं की बपौती था, आज वह सभी के लिए सुलभ हो गया है। कम्प्यूटर के माध्यम से इंटरनेट पर संगीत-सम्बन्धी अनेक वेबसाइट अब उपलब्ध होने लगी हैं। इससे विभिन्न प्रकार का संगीत और संगीत-सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना जनसाधारण के लिए आसान हो गया है।

इस तरह बीसवीं सदी हिन्दुस्तानी संगीत के लिए बड़े महत्व की रही है। परम्परा और बदलाव के बीच की कशमकश को इस पूरी सदी ने बड़े धैर्य के साथ देखा है और शास्त्रीय संगीत को आधुनिक लोकतन्त्रीय आवश्यकताओं के अनुसार ढालने की सफल कोशिश की है। चिन्ता तो इस बात की है कि व्यापारिक मानसिकता के कारण आज की युवा पीढ़ी में गला-काट प्रतियोगिता और ग्लैमर की जो मनोवृत्ति विकसित हो रही है, वह हमारे शास्त्रीय संगीत को कहीं जड़ों पर ही प्रहार न कर बैठे। देखना यह है कि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के रूप में भारतीय प्रतिभा ने जो अद्वितीय उपलब्धियां अब तक हासिल की हैं, उनकी रक्षा इक्कीसवीं सदी किस तरह करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौबे डॉ0 सुशील कुमार, संगीत के घरानों की चर्चा
2. चन्दावरकर पं0 भास्कर, प्रसार-माध्यम और संगीत
3. देवांगन तुलसीराम, भारतीय संगीत शास्त्र
4. अत्रे डॉ0 प्रभा 'स्वरमयी', मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
5. शर्मा डॉ0 प्रेमलता, सेमिनार रिपोर्ट
6. मुटाटकर डॉ0 सुमति, संगीत
7. मायाराम, संगीत सम्पदा

शास्त्रीय एवं सुगम संगीत के एकत्व बिन्दु

डॉ0 मंगला क

दोनों का लक्ष्य

उद्देश्य	-	आनंद
श्रेय	-	दोनों में
प्रशंसा	-	दोनो में
चारूता	-	दोनो में
रचना	-	दोनो में
विस्तार	-	दोनो में
लय तालज्ञता	-	दोनो में
संयोग-वियोग	-	दोनो में

सार्वभौमिक प्राकृत गुण युक्त विद्या संगीत के बारे में किये गये चिन्तन मनन के फलदायी निष्कर्ष के लिखित स्वरूप को शास्त्र कहा गया है, क्योंकि प्रत्येक वैदुष्य की शारदीय यात्रा की प्रत्येक मात्र का संग्रह शास्त्र कहा जाता है।

संगीत में आहत अनाहत के पश्चात् देशी, मार्गी जैसी दो दिशाओं एवं दशाओं के उल्लेख के अतिरिक्त कहीं भी गायन, वादन, नृत्य के प्रयोग परक प्रक्रिया को शास्त्रीय विशेषण से नहीं बाँधा गया है। वैसे भी संगीत किसी विशेषण का मुखापेक्षी नहीं है। मनुष्य ने अपने नाप और पात्रता के अनुकूल जो-जो भी मानक स्थापित किये वह संगीत के मापक मान लिये गये। व्यक्तिशः संगीत पर अलग-अलग नाम आरोपित होते आए हैं। पक्का गाना,शास्त्रीय संगीत, उच्चांग संगीत, क्लासिकल म्यूजिक, लाइट म्यूजिक, फोक म्यूजिक, सुगम संगीत ये सारे शब्द अपने प्रतिलोम के बारे में भी प्रश्न उठाते हैं। साधारण बुद्धि क्या समझे? लाइट म्यूजिक और डार्क म्यूजिक या लाइट से हल्का संगीत तो क्लासिकल के लिये हैवी संगीत?

सुगम भी प्रश्न उठाता है,कि क्या दूसरा दुर्गम है? इन सारे शब्द प्रयोगों के पीछे कोई न निहितार्थ अवश्य है कठिनाई पर विजय प्राप्त वाला, कठिनाई को जीतने वाला तपवीर तो कहा जाएगा अतः इसे दुरूह बनाते हुए फिर उसे साधि प्रस्तुत करते हुए अपने को विशिष्ट बनाने प्रकृति इसके पीछे निहित हो सकती है, किन्तु क्विज की सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। और सुलझाव में इतना सूक्ष्म अन्तर तो मानना होगा कि सरल उलझाव से निरपेक्ष है सुलझाव-उलझाव जैसे बैरी से बचाव करते हुए च वाली वृत्ति का नाम है। इसी प्रकार सुगम की या सुगम शैली की स्वीकारोक्ति दुर्गमता से ब का उपाय भी हो सकता है।

डा0 आचार्य के मतानुसार क्लिष्टतम सरलतम मार्ग ढूढना कठिनतम कार्य है, और अभ्य इसी विश्वास को पाने का प्रयास है, न कि क्लिष्ट से टकरा-टकरा कर हताहत होने का अभ्यास। क्लिष्टतम से टकराने वाली जोर जबरदस्ती का परिणाम गायकों में मुद्रा दोष आदि के रूप परिणत हो जाता है। यह अमूर्त विद्या है, त स्वच्छन्दता का इसमें स्थान नहीं है। तन्त्र से व्यव का तात्पर्य लिया जाता है, स्वतन्त्र अपनी व्यव का नाम है, न कि व्यवस्था विहीनता का। कि स्वेच्छाचार ने दोषों को भी शास्त्र में सम्मिलित क के लिये परम्परा या घरानेदारी का बहाना लिया जैसे- जबड़े की तान, गिटकिरी की तान आ निषिद्ध सीमा रेखा की क्रियाएँ हैं इनसे विरू और रस भंग के ही परिणाम मिलते हैं। अनुवाद

संगीत गायन विभाग, महिला महा विद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रवृत्ति से गायन को गायन न कहते हुए वोकल के अनुवाद स्वरूप कंठ संगीत कहने की प्रवृत्ति भी रही है, इस आधार पर क्या नृत्य को पॉव संगीत कहना, तबले को कलाई या हथेली संगीत कहना उचित लगेगा ?

शास्त्र में प्रत्येक शब्द की परिभाषा सिद्धि अभिलाषा एवं परिणाम प्रत्याशा होती है। अतः शब्दसः अनुपालन किये बिना शास्त्रीय आचरण सम्भव नहीं। शब्द की खोज में विगत अतीत की यात्रा करने पर इतना आधार मिलता है, कि संगीत पर शास्त्रीय विशेषण का आरोपण आकाशवाणी (आल इंडिया रेडियो) के संयोग का परिणाम है। संगीतकारों के विविध वर्ग के स्तर एवं शैली वर्गीकरण का उद्देश्य ही इसका कारण रहा है।

शैली की दृष्टि से देखा जाय तो सदुद्देश्य आनंद सौंदर्य, तल्लीनता, अहं विसर्जन, आत्म मग्नता से प्राप्त दिव्य कान्ति , शान्ति की ध्रुवत्व देने वाला संयोजन, जिसे अपनाकर विषय में ध्रुव स्थापना मिल सके वह ध्रुपद शैली मानी गयी।

अनुशासन विहिन कोई भी रचना संभव नहीं इसी के आधार पर अनुपात,सन्तुलन, आकार एवं प्रकार का निर्धारण किया जा सकता है। इस दृष्टि से संगीत की शैली और विधाएँ अनुशासन के ही विविध अवतार है। संगीत में ध्रुव स्थापना के पश्चात जब व्यक्ति को उस विषय या बिन्दु को केंद्र में रखते हुए विषयगत मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए जब अपने स्वर लयमय अभिमत या विचार (ख्याल) व्यक्त करने की छूट मिली तो ख्याल शैली की ज्योति जली, रागों में आविर्भाव तिरोभाव द्वारा अपने रागगत अधिकार सामर्थ्य को व्यक्त करने वाली परम्परा में थोड़ी और छूट प्राप्त की और राग मालिका के स्थान पर मिश्र रागों की अनुमति मिली, असहज प्रयासों, कठोर क्रियाओं के घात-प्रतिघात से बचते हुए सहलाने बहलाने वाली मनोवृत्ति के कदमों की ठुमक इसे ठुमरी कहने लगी। दुलार, प्यार, तुनकना और ठुनकना एक विशिष्ट वत्सलता का परिचायक होता है, अब समस्या यह आती है, कि उप-शास्त्रीय के नाम से संबोधित शैली से प्राप्त आनंद या श्रेयस पक्ष शास्त्रीय संगीत में वर्जित है? या शास्त्रीय संगीत द्वारा ही अर्जित है।

सर्वप्रथम पहला एकत्व बिन्दु ये मानना होगा कि मीठा औषधि में हो या मिष्ठान्न में या किसी भी रूप रंग का, स्वाद में उसे मीठा लगना ही चाहिये, इसलिये संगीत उप हो या मुख्य हो कच्चा, पक्का कुछ भी हो, वह समझ में आए या न आए अच्छा लगना ही चाहिये और यदि सम्प्रेषणीयता के किसी अपवाद, अवरोध के कारण अच्छा लगने में बाधा हो रही हो, तो खराब तो नहीं ही लगे। मैथमैटिक्स और भौतिक विज्ञान की परिचर्चा गोष्ठी में यदि कोई अन्य विषय का व्यक्ति पहुँच जाय तो हो सकता है विषय से अनभिज्ञ व्यक्ति कुछ न समझ पाने के कारण अप्रभावित बैठा रहे और धैर्य की समाप्ति के बाद उठकर चलां जाय, किन्तु उसे सेमिनार में हँसी नहीं आने लगेगी किसी के व्याख्यान से वह आक्रोश में नहीं आ जाएगा, किन्तु संगीत की गलेबाजी या अन्य अवांक्षित क्रियाओं के कारण कभी जीभ छीलने जैसी या बकरे जैसी आवाज की साम्यता का बोध, हँसी, अरूचि, उपहास के कारण यह सामान्य एवं विशिष्ट जन की रूचि से क्रमशः दूर होता जा रहा है।

ठुमरी ने भी शास्त्रीयता के गुणों के अतिरिक्त इसके दोषों को भी ग्रहण करना आरम्भ कर दिया है और शास्त्रीयता ठुमरी की सम्प्रेषणशीलता से न जाने क्यों निरपेक्ष बैठी है। हमें इन विविध शैलियों के बीच लय, स्वर, ताल, राग, सुरीलेपन, रचना, बोलालाप, बोलबनाव, स्वर अलंकरण आदि के एकत्व को देखते हुए प्रभावगत पृथकत्व पर विचार करना होगा। उच्च शिक्षा के वैचारिक पड़ाव पर तथ्य परक विहंगावलोकन एवं परम्परागत सिंहावलोकन करना हमें औचित्यपरक लगता है।

शास्त्रीय संगीत-

स्वर, लय, ताल, राग, आलाप, बोलबॉट, बोलआलाप, तान प्रधान, खटका, मुर्की, मींड, गमक, रस, भाव, रंजक।

सुगम संगीत-

स्वर, लय, ताल, राग पर आधारित, छोटे-छोटे सुन्दर आलाप, खटका, मुर्की, रस, भाव, रंजकयुक्त कम समय में भावाभिव्यक्ति, बोल बनाव।

शास्त्रीय संगीत के अभ्यासकों को आनेवाली कठिनाईयाँ तथा चुनौतियाँ

डॉ. अनया थत्ते

प्राचीन काल के ईश्वराधिष्ठित संगीत कला का उपयोग मुगलकाल में जबसे बादशाहों की विलासिता को बहलाने के लिए होने लगा, तब से संगीत के उद्देश्य में ही परिवर्तन हुआ। मध्ययुग में मनोरंजन ही संगीत का प्रमुख उद्देश्य बन गया, जिससे तत्कालीन राजा-महाराजा तथा संस्थानिकों के दरबार में दरबारी गायक तथा वादकों की विशेष रूप से नियुक्ति की जाने लगी। इस प्रकार नियुक्त कलाकार अपनी कला की साधना में संपूर्ण समय व्यतीत कर सकते थे। उनके पालन पोषण की जिम्मेदारी उनके पालनकर्ता की होती थी। कला की साधना करना, अपने आश्रयदाता का मनोरंजन करना, उनकी आज्ञा से आसपास के संस्थानों में कार्यक्रम करना, संगीत के विविध पहलुओं पर चर्चा करना, यही उनकी दिनचर्या होती थी। इसके लिए उन्हें बिदाई के तौर पर विशिष्ट धन मानदेय के रूप में दिया जाता था। यही उनका स्वयं का अर्जित धन होता था। परंतु संस्थानिकों के संस्थान विलीन होने के उपरांत ऐसे कई कलाकारों पर मानो पहाड़ सा टूट पड़ा। कुछ कलाकार संगीत के अतिरिक्त बाकी पर्याओं द्वारा रोजी रोटी कमाने लगे। जैसे तैसे कमाई हुई छोटी सी आमदनी में भी वह अपना गुजारा कर लेते थे, परंतु संगीत के प्रति उनकी श्रद्धा तथा प्रेम अटूट रही थी। संगीत कला की सेवा के लिए वह निरंतर प्रयत्नशील रहें। आर्थिक दृष्टि से संपन्न न होते हुए भी एक कलाकार अथवा गुरू के रूप में समाज में उनका सम्मान और प्रतिष्ठा कायम रही।

यातायात के साधनों में विकास के साथ इन कलाकारों को स्थानांतर करना सुलभ हुआ। अलग-अलग जगह के कलाकारों को मिलना, बाहरी कलाकारों को आमंत्रित कर उनके कार्यक्रमों का आयोजन करना भी आसान हुआ। कला तथा वैयक्तिक उन्नति की आशा से सभी कलाकार इन आमंत्रणों को स्वीकारने लगे। उससे उनकी संगीत विषयक मत-मतांतरों पर चर्चाएं होती थी, विचारों के आदान-प्रदान द्वारा अलग-अलग घरानों के वैशिष्ट्यों से वे भलिभाँति परिचित होते थे। इस परिस्थिति में भी उदर निर्वाह का प्रश्न उनके सम्मुख रहता ही था। इस युग में घराना गायकी प्रचार में होने के कारण कुछ प्रतिष्ठित कलाकार तथा उनके शिष्यों को संगीत को व्यवसाय के रूप में स्वीकारने में कठिनाई नहीं हुई। मात्र नवीन विचारों के प्रभाव में रहनेवाले तथा शास्त्रीय संगीत को अलग दृष्टिकोण से लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करनेवाले प्रतिभावंत कलाकारों को श्रोताओं की नाराजगी का सामना करना पडा। परिणामस्वरूप उन्हें आजीविका का प्रश्न उपस्थित हुआ।

स्वातंत्र्योत्तर काल से वैश्विक उदारीकरण तथा वैज्ञानिक प्रगति के कारण देशांतर्गत मर्यादित रहनेवाले भारतीय संगीत की लोकप्रियता की कक्षाएं विस्तृत हुई। घरानों के कड़े अनुशासन में विकसित हुए शास्त्रीय संगीत के नियम शिथिल हुए। कलाकारों ने भी अपनी प्रस्तुतीकरण की पद्धति में श्रोताओं की रूचि के अनुसार बदलाव करना स्वीकार किया। आज की स्पर्धा के युग में संगीत क्षेत्र में खुद की

सह-प्राध्यापिका, संगीत विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई

पहचान बनाए रखने के लिए महफिलों के स्वरूप में तथा उनके कालावधि में भी समयानुसार आवश्यक बदलाव किए।

पहले संगीत को आजीविका का मार्ग स्वीकारने के उपरांत उनसे गायन-वादन का प्रस्तुतीकरण करना ही अपेक्षित होता था। इसलिए घरानेदार तालीम, श्रेष्ठ गुरूओं का मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद, खुद की कला पर विश्वास, तथा रियाज इनकी सहायता से कलाकार संगीत विश्व में खुद को सिद्ध कर सकता था। एक बार गुणीजनों के सम्मुख इस प्रकार खुद को सिद्ध करने के उपरांत उसे भविष्य में कठिनाईयों का सामना नहीं करना पड़ता था। परंतु आज इस क्षेत्र में बढ़ती हुई स्पर्धा के कारण खुद को काबिल पाते हुए भी कलाकार के लोकप्रिय होने की संभावना नहीं है।

बाकी संगीत प्रकारों की तुलना में शास्त्रीय संगीत के कलाकारों को प्रसार माध्यमों द्वारा मिलनेवाले अल्प प्रसार के मुद्दे पर भी विचार होना आवश्यक है। आज जिस प्रकार निजी चैनलों द्वारा सारेगम, इंडीयन आयडॉल, मेरी आवाज सुनो जैसे कार्यक्रम किए जाते हैं, ऐसी स्थिति शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में नहीं पायी जाती। इन सभी कार्यक्रमों का आयोजन व्यावसायिक दृष्टिकोण से किए जाने के कारण उनकी प्रसिद्धि भी **बड़ी मात्रा** में की जाती है तथा उन्हे उस तरह की प्रसिद्धि भी मिलती है। इससे विपरीत शास्त्रीय संगीत के उदयोन्मुख, उदित तथा प्रस्थापित कलाकारों के लिए इस प्रकार के विशेष कार्यक्रमों का आयोजन नहीं किया जाता। दूरदर्शन पर आयोजित आयडिया जलसा जैसे कार्यक्रम को छोड़कर शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों का प्रसारण प्रसिद्ध कलाकार तथा बड़ी संस्थाओं द्वारा आयोजित कार्यक्रमों अपवाद छोड़कर निजी माध्यमों द्वारा बहुत ही कम किया जाता है।

शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों को श्रोताओं द्वारा मिलनेवाली **प्रसिद्धि** संगीत के बाकी कार्यक्रमों की तुलना में अत्यल्प होने के कारण निजी प्रसार वाहिनियाँ इन कार्यक्रमों को प्रसारित करने में अधिक उत्साही नहीं होती है। व्यावसायिक दृष्टिकोण के साथ ही परंपरा तथा संस्कृति को जतन करने हेतु अपना सामाजिक उत्तरदायित्त्व मानकर अगर इन निजी प्रसार माध्यमों ने शास्त्रीय संगीत का कार्यक्रम प्रसारित करना शुरू किया, तब भी कई उदयोन्मुख कलाकारों को प्रस्तुतीकरण की प्रसिद्धि प्राप्त होगी। शासन की ओर से भी शास्त्रीय संगीत के प्रचार के लिए एक स्वतंत्र प्रसारण माध्यम की **व्यवस्था होनी आवश्यक** है। इससे सभी कलाकारों को नियमित रूप से अपने कला के प्रस्तुतीकरण का अवसर प्राप्त होगा। शास्त्रीय संगीत का क्षेत्र केवल बुजुर्ग कलाकारों द्वारा ही व्यापित है यह भावना दूर होकर युवा पीढी को भी प्रसिद्धि प्राप्त होगी, तथा आजीविका के रूप में युवा पीढी इस क्षेत्र में स्थिर हो रहीं है यह सत्य लोगों के समक्ष आएगा।

आज वैश्विक उदारीकरण का परिणाम बाकी क्षेत्रों के साथ ही शास्त्रीय संगीत पर भी हो रहा है, जिसके कारण हमारे संगीत पर भी अलग-अलग देशों की कला तथा संस्कृति का परिणाम दिखाई देता है। फ्यूजन संगीत प्रकार की निर्मिती दर्शाता है। इस फ्यूजन संगीत ने आज की युवा पीढी को इतना आकर्षित किया है, की आज हर कोई कलाकार अपने कार्यक्रम में इसका प्रयोग करता है। कभी एक नया प्रयोग समझकर, तो कभी आयोजकों की पसंद के कारण शास्त्रीय संगीत की महफिलों मे फ्यूजन की व्यापकता बढ़ रहीं है। परंतु फ्यूजन करते समय प्रस्तुतीकरण की मर्यादाओं के कारण शास्त्रीय संगीत उसके शुद्ध स्वरूप में श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करना कभी कभी संभव नहीं हो पाता है। नवीनता से आकर्षित नई पीढी फ्यूजन में प्रस्तुत शास्त्रीय संगीत को ही उसका असली स्वरूप समझने की भूल कर रही है। जब इसी पीढ़ी का कोई युवा कलाकार अपनी कला को पारंपारिक पद्धति के अनुसार इनके सामने प्रस्तुत करता है, तब यह स्वरूप स्वीकारने की मानसिकता नई पीढ़ी में नहीं होती है। फ्यूजन संगीत से सामना करने की बहुत ही बड़ी चुनौती आज शास्त्रीय संगीत के सम्मुख है। नई पीढी को शास्त्रीय संगीत की ओर आकर्षित करने के एक साधन के रूप में भी अगर फ्यूजन संगीत को देखा गया, फिर भी इस प्रकार से आकर्षित युवा पीढी आगे चलकर शास्त्रीय संगीत के प्रचार प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहेगी इसकी संभावना हम नहीं दे सकते। जिसने कई सालों तक शास्त्रीय संगीत की साधना की है, तथा कठोर परिश्रम से उसके परंपरागत रूप को साध्य किया है, ऐसे किसी

यशस्वी कलाकार का कार्यक्रम सुनना, और तुरंत ही प्रसिद्धि तथा धन प्राप्त करानेवाले और ताल लय के माध्यम से थोड़े समय के लिए मन को आकर्षित करनेवाले संगीत का फर्क नई पीढ़ी में समझना आवश्यक हो गया है।

आज संगीत की महफिलों में आनेवाले श्रोताओं की भी कलाकार से कुछ अपेक्षाऐं होती है। आज कल के कार्यक्रमों में संपूर्णतः शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा उपशास्त्रीय, अभंग, नाटयसंगीत आदि का भी प्रस्तुतीकरण होता है। प्रत्येक कलाकार अपने आवाज की मर्यादाओं को ध्यान में रखकर कार्यक्रम में प्रस्तुतीकरण का क्रम निश्चित करता है। महफिल में किसी राग को प्रस्तुत करते समय श्रोताओं के मन पर उसी राग का किसी बड़े कलाकार द्वारा सुने हुए प्रस्तुतीकरण के प्रभाव को मिटाकर उन्हें अपनी कला द्वारा आनंद देना यह दोहरी जिम्मेदारी कलाकार पर होती है। परंतु इस मुद्दे को ध्यान में न रखकर श्रोता तुरंत ही उस कलाकार की तुलना किसी अन्य कलाकार के साथ करने लगते है। प्रस्थापित कलाकार इससे विचलित नहीं होते हैं, मात्र नवोदित कलाकारों के सांगीतिक कार्य पर इसका विपरीत परिणाम होने की बडी आशंका होती है।

आज कई संस्थाऐं केवल युवा कलाकारों को प्रस्तुतीकरण के लिए मंच उपलब्ध करा रही है। उसमें ITC-संगीत रिसर्च अकादमी सबसे अग्रगण्य है। अलग-अलग संस्थाओं द्वारा आयोजित कार्यक्रमों को आर्थिक सहायता देने का काम भी ITC द्वारा किया जाता है। परंतु ऐसे प्रयत्न बड़े स्तर पर होना आवश्यक है।

प्रस्तुतीकरण का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन होते हुए भी आज के युग में अधिकाधिक धन तथा प्रसिद्धि प्राप्त करना यह आज की युवा पीढी का मुख्य उद्देश्य बन गया हे। एक तरफ कार्यक्रम के लिए विशिष्ट मानदेय के लिए आग्रह करना तथा दूसरी तरफ केवल नाममात्र मानदेय लेकर कार्यक्रम आयोजित करने के लिए आयोजकों के आगे पीछे घूमनेवाले कलाकार, इस प्रकार परस्पर विरोधी चित्र इसी क्षेत्र में दिखाई देता है। इसमें नुकसान होता है, उन गुणी कलाकारों का जिन्हें किसी बढ़े कलाकार अथवा आयोजकों का वरदहस्त नहीं है।

जब कोई व्यक्ति शास्त्रीय संगीत को ही अप
व्यवसाय बनाने का निर्णय करता है, तब संगीत
आधार पर किए अर्थार्जन से ही अपने कुटुंब
पालन पोषण करना आवश्यक होता है। आज शास्त्र
संगीत की युवा पीढ़ी में भी महिला कलाकारों
संख्या अधिक है। पुरूष कलाकारों की अपेक्षा महि
कलाकारों पर परिवार का आर्थिक उत्तरदायि
कम रहता है। इसलिए आज के युग में भी
पूर्णतः संगीत को समय दे सकती है। यही कारण
कि आज का युवक संगीत को केवल छंद के रूप
आगे बढ़ाता है, या फिर संगीत को ही आजीवि
का साधन बनाना है इस दुविधा में सही निर्णय
ले पाता। इससे बाहर निकलकर अगर वह संगी
को आजीविका का साधन बनाने का निश्चय
लेता है, तो भी आगे चलकर शनैः शनैः उस
आत्मविश्वास कम होकर अंत में वह इसी क्षेत्र
किसी नौकरी ढूंढने के प्रयास में लग जाता
संगीत के वातावरण में होने के विचार में
समाधान मानते है। नौकरी में आए बदलावों
तथा उत्तरदायित्त्व को स्वीकारने के प्रयास में
के कार्य में इतने व्यस्त हो जाते है, कि उन
कलाकार वृत्ति नष्ट हो जाती है। इस वातावरण
फिर संगीत की साधना के लिए उनके पास समय
नही रहता। पहले जमाने में जिस प्रकार कलाव
को संस्थानिकों का आश्रय मिलता था, उसी प्र
किसी पर्यायी व्यवस्था की आवश्यकता सामने आ
है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत अपनी कला
संस्कृति का एक अविभाज्य अंग है। हमारे
कलाकारों ने उनकी युवावस्था में संगीत के
कार्यक्रमों द्वारा इसका परंपरागत स्वरूप टिकाने
प्रयास किया। परंतु उनकी वृद्धावस्था में उन्हें
रियाज, अध्यापन तथा कार्यक्रम करना संभव
होता है। कभी कभी आवाज भी साथ नहीं देत
उम्र के साथ साथ छोटी छोटी व्याधियाँ भी उ
होती है। ऐसे कलाकारों के उदर निर्वाह के
सरकार द्वारा पेंशन की व्यवस्था होनी चाहिए

शास्त्रीय संगीत के कलाकारों को इसी क्षे
आजीविका प्राप्ति की उपलब्धियों का प्रमाण अ
अल्प है। आज सरकारी, गैरसरकारी कार्यालय
अथवा संगीत संबंधी निजी व्यवस्थापनों में उप

नौकरियाँ तथा उनके लिए अर्जी करनेवाले उम्मीदवारों की संख्या का कहीं भी मेंल नहीं बैठता। महत्त्व की बात यह है की पहले तो कलाकारों को उनके लिए उपलब्ध इस प्रकार के नौकरियों की जानकारी ही नहीं होती है। कई बार यह जानकारी होते हुए भी उस पद के लिए आवश्यक शैक्षणिक अर्हता उनके पास नहीं होती है। महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालयों में भी संगीत विषयक स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर सिखाने के लिए पात्र शिक्षकों की आवश्यकता होती है। परंतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति के लिए संगीत विषय में एम.ए. की उपाधि तथा नेट परीक्षा उत्तीर्ण होना आवश्यक किया है। संगीत के इतिहास का अवलोकन करने पर यह बात स्पष्ट होती है कि शास्त्रीय संगीत के कई अच्छे कलाकारों ने संगीत की साधना करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर शिक्षण छोड़ दिया था। इस परिस्थिति में आज कुछ बदलाव आए हैं, फिर भी इन पदों के लिए आवश्यक शैक्षणिक पात्रता की जानकारी सभी कलाकारों को नहीं होती है। नेट जैसी परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए केवल शास्त्र के अभ्यास में समय व्यतीत करने से प्रस्तुतीकरण सुधारने के लिए रियाज पर अधिक जोर देने की युवा पीढ़ी की मानसिकता दिखाई देती है। संगीत के शिक्षण और उसके उपरांत इस क्षेत्र में खुद को सिद्ध करने के लिए जो समय लगता है, उसमें कलाकार को सकारात्मक दृष्टिकोण रखना और खुद को शांत और संतुलित रखना आवश्यक हो जाता है।

शासन की ओर से शास्त्रीय संगीत के अभ्यासकों तथा कलाकारों को कई प्रकार के अनुदान दिये जाते है। परंतु उसके लिए आवश्यक नियमों का इतनी कठोरता से पालन किया जाता है, कि चयन प्रकिया के अंत में उनमें से पात्र घोषित किए गए कलाकारों की संख्या अत्यंत अल्प होती है। यह नियम अगर थोड़े शिथिल किए जाए, तो कलाकार भी प्रोत्साहित होकर संगीत कला की सेवा में जुट जाएंगे। किसी भी कला तथा बाकी शिक्षण शाखाओं की चयन प्रकिया को एक जैसे नियम लगाना कहाँ तक योग्य होगा इस पर पुनर्विचार होना आवश्यक है। आज जिन कलाकार तथा अभ्यासकों ने शास्त्रीय संगीत को ही आजीविका बनाने का निश्चय किया है, उन्हें कुछ पूर्व तैयारी करने की निश्चित रूप से आवश्यकता है। जिस प्रकार किसी नए व्यवसाय की शुरूआत करते समय संबंधित व्यक्ति उसपर भविष्य में होनेवाले दीर्घकालीन परिणामों की आवश्यकताओं का विचार कर व्यवस्थित रूप से नियोजन करता है, उसी प्रकार जब शास्त्रीय संगीत केवल एक छंद ना रहकर रियाज तथा अभ्यास के उपरांत आजीविका का साधन बन जाता है, तब कलाकार तथा अभ्यासकों को शास्त्रीय संगीत के भूत, वर्तमान तथा भविष्य से संबंधित सभी घटनाओं को समझकर उस प्रकार तैयारी करना आवश्यक है। पुराने जमाने के कलाकारों की उच्च विचारशीलता का अनुकरण करने के साथ साथ ही उन्हें आजकल के दिखावे की दुनिया में खुद की प्रतिभा लोगों के सम्मुख बनाए रखने के लिए संगीत जगत के मान्यवर कलाकार तथा विद्वान, प्रसार माध्यम और बड़ी संस्थाओं के साथ मित्रतापूर्ण संबंध विकसित करना आवश्यक हो जाता है। इस क्षेत्र की सभी गतिविधियों से खुद को परिचित रखना भी उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। इस क्षेत्र में उपलब्ध नौकरी के लिए आवश्यक शैक्षणिक अर्हता उन्हें प्राप्त करनी चाहिए। कलाकारों को कला प्रस्तुति के लिए किसी शैक्षणिक उपाधि की आवश्यकता नहीं है इस प्रकार की मानसिकता को दूर करने में ही समझदारी होगी।

वैश्विक प्रगति में टेक्नॉलॉजी के महत्त्व को आज नकारा नहीं जा सकता। संगीत क्षेत्र में भी टेक्नॉलॉजी के कारण आज महत्त्वपूर्ण बदलाव हो रहें है। अलग-अलग वाद्य तथा उपकरणों की निर्मिती का उपयोग और आनंद आज हम सभी ले रहें है। साथ ही कंप्युटर, इंटरनेट द्वारा संगीत का आदान-प्रदान तथा श्रवण आसान हो गया है। कलाकार तथा अभ्यासकों ने अगर अपनी पारंपारिक विचारशीलता को दूर कर नए बदलावों को स्वीकार किया, तो उनकी सांगीतिक प्रतिभा पर इसका अच्छा परिणाम दिखाई देगा। इस क्षेत्र को व्यवसाय के रूप में स्वीकारने की ईच्छा रखनेवाले नवीन कलाकारों ने अगर इन कठिनाईयों को समझकर उनका सकारात्मक दृष्टिकोण से सामना किया, तो उनके उज्ज्वल भविष्य के साथ ही शास्त्रीय संगीत को अपना वैभव पुनः प्राप्त करना असंभव नहीं है।

"ललित कला के विविध आयामों में संगीत का स्थान सर्वश्रेष्ठ"

डा0 किरण सिंह

जिस कला में सौन्दर्य और आकर्षण निहित है इसकी गणना ललित कलाओं में की जाती है। जर्मन दार्शनिक गेटे के अनुसार कोई भी कृति तभी सुन्दर हो सकती है जब उसने अपने विकास के चरमोत्कर्ष को प्राप्त किया हो। पश्चात दार्शनिक प्लूटो, अरस्तु तथा क्रोच आदि ने ललित कलाओं के सौन्दर्य की मीमांसा इसी रूप में प्रस्तुत की है।

ललितकला मानव के अन्तःस्थल से प्रादुर्भूत हृदय की कोमल झंकृति है अनुभूति जन्य स्पंदन है जो मानव की कलात्मक सर्जना का परिचायक है। ललितकला के विविध आयामों में पाँच प्रकार के कला विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्हीं पाँच प्रकार के ललित कलाओं का उल्लेख "संस्कृत वाड.मय" में भी मिलता है उसके नाम इस प्रकार है -

(1) वास्तुकला
(2) चित्रकला
(3) मूर्तिकला
(4) काव्यकला तथा
(5) संगीतकला

इन पांचों कलाओं में संगीत का स्थान अन्यतम ही नहीं अप्रतिम है। ललित कला सम्पूर्ण मानवता को उर्ध्वमुख दिशा में प्रवृत्त कर इनके संस्कारों को उदात्त बनाती है।

हमारा प्यारा भारत देश ललित कलाओं का उद्‌गम स्थल माना जाता है जिसका अमिट प्रभाव आज भी विद्यमान है। ललित कला को उन्नत एवं समृद्ध बनाने में यहाँ के शिल्पकार, चित्रकार, मूर्तिकार, कवि एवं संगीतज्ञों का अमूल्य योगदान है। संपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न भाग ललित कला की पृथक-पृथक विशिष्टताओं से सम्पन्न है। यहाँ की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा में ललित कलाओं को पल्लवित पुष्पित होने का यथेष्ट वातावरण सुलभ हुआ है।

वास्तुकला के अन्तर्गत भवन अथवा देव मन्दिर का निर्माण आता है। किसी भी भवन को देखने मात्र से ही उस भवन के निर्माता अथवा उस भवन में रहने वाले व्यक्तियों की मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक भवन अथवा देव मंन्दिर का सौन्दर्य भिन्न-भिन्न होता है और उसके प्रति मानव का आकर्षण भी भिन्न-भिन्न होता है। जैसे यदि कोई शिव मंदिर सामने आ जाता है तो तुरंत मन में भक्ति की भावना जागृत हो जाती है और अचानक ही हम नतमस्तक हो जाते हैं। उसी प्रकार किसी विशाल भवन को देखने मात्र से ही उसमें रहने वाले व्यक्तियों की स्तरीयता और सौन्दर्य प्रियता का पता लग जाता है।

मन्दिर, मस्जिद, गुरूद्वारा, गिरजाघरों को देख कर ही हम कह सकते हैं कि ये मंदिर है, मस्जिद है, गिरजाघर है अथवा गुरूद्वारा। उसकी बनावट ही यह समझाने के लिए पर्याप्त हो जाती है। इस तरह हम पाते हैं कि किस तरह वास्तुकार अपनी अभिव्यक्ति को भवन या मन्दिर के रूप में साकार रूप प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। धार्मिक अभिव्यंजना भारतीय ललित कलाओं की आधार भूमि रही है। लौकिक परम्परा में उद्‌भूत होने पर धार्मिक परम्पराओं पर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा होती रही। भारतीय दृष्टिकोण

अध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति0 मां0 भा0 वि0 भागलपुर

के अनुसार कला वह है जो मुक्ति के लिए उपकारक हो, जो कला केवल भौतिक सुख-विलास का माध्यम है, वह भारतीय दार्शनिक की दृष्टि में कला नहीं। कला का अन्तिम लक्ष्य भौतिक संसार से ऊपर उठ कर ऐसी मधुमती अवस्था को प्राप्त करना है, जिसमें भौतिक द्वन्दों के लिए कथमपि स्थान नहीं :-

विश्रांतिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे यथात्मा स परा कला।

"यूनानियों की वास्तुकला की विशेषता उनकी प्रज्ज्वलता और पूर्णता रही। रोमन भवन अपनी वैज्ञानिक रचना के लिए प्रसिद्ध है। फ्रेंच गोथिक कला में भावुक बुद्धि एवं उद्भावना दर्शनीय है। ठीक इसी प्रकार भारतीय वास्तु कला की सर्वप्रथम विशेषता इसकी अध्यात्मनिष्ठा में निहित है।"

चित्रकला में तूलिका के द्वारा कलाकार किसी व्यक्ति या वस्तु का चित्र निर्मित करता है। इसमें कलाकार के मनोभावों की छाप मिलती है। कलाकार के अन्तर्जगत् में प्रकृत वस्तु के स्वरूप का अनुभव विद्यमान रहता है जिसे वह तूलिका के माध्यम से चित्र बनाकर उसे संस्कार रूप प्रदान करता है। चित्रकला का सौन्दर्य लौकिक सौन्दर्य से भिन्न है। जो वस्तु देखने में सुन्दर लगती है वह सुन्दर और जो देखने में बुरी या भद्दी लगती है वह असुन्दर कहलाती है। यही लौकिक सौन्दर्य का मापदंड है। किन्तु चित्रकला का सौन्दर्य अलौकिक एवं शाश्वत है। चित्रकला में सुन्दर वस्तुओं और असुन्दर वस्तुओं की अभिव्यक्ति स्पष्ट दिखाई देती है। दोनों प्रकार की वस्तुओं में अलौकिक सौन्दर्य की झाँकी मिलती है। बाह्य जगत में जिसे असुन्दर कहते हैं, चित्रकला में वह अभिव्यक्त होकर सुन्दर हो जाता है। चित्र कला का सौदर्य केवल इस बात में है कि भद्दी से भद्दी वस्तु को कलाकार ऐसे ढंग से चित्रित करता है कि उसका वास्तविक रूप व्यक्त हो जाता है। चित्रकला का सौन्दर्य वस्तु में नहीं अपितु वस्तु के चित्रण में है।

मूर्तिकला भी ललित कला का एक अंग है। इसमें मूर्तिकार निर्जीव चीजों से मूर्ति बनाकर उसमें सजीवता ला देता है, जैसे पत्थर मिट्टी, या काष्ट आदि उपकरणों की सहायता से जैसी आकृति का निर्माण कर लेता है, उससे मूर्तिकला मूर्त हो उठती है। चित्रकला और मूर्ति कला में बहुत कम अन्तर है एक का निर्माण तूलिका से और दूसरे का निर्माण गढ़ाई से किया जाता है। मूर्ति निर्माता मूर्ति में अनेक भावों का दिग्दर्शन कराता है। आज भी ऐसे मूर्तिकार हैं जो अपनी कला का दिग्दर्शन करा चकाचौन्ध कर देते हैं। कलकत्ता में दुर्गापूजा के अवसर पर बनी मूर्तियाँ या पण्डाल सचमुच चकाचौन्ध कर देने वाले होते हैं। माँ दुर्गा की अनेक प्रतिमाएँ विभिन्न मुद्राओं को लिए कला की विशालता प्रदान करती है। या फिर भिन्न-भिन्न अवसरों पर बनी विभिन्न मूर्त्तियाँ चाहे वे झूलन के हो, या श्री कृष्णा की मूर्ति हो या गणेश चतुर्थी पर निकाली गई, श्री गणेश की मूर्ति हो सब की सब मूर्तिकला की ऐसी प्रतीक है जो भारत के मूर्तिकारों का सर गर्व से ऊँचा करती है। अपनी मूर्तिकला की उत्कृष्टता के लिए विदेशों में भी हमारे मूर्तिकारों को सम्मान प्राप्त है। कोस्य, पीतल तथा संगमरमर की बनी मूर्तियां आज भी हमारे देश की गरिमा है।

काव्यकला में चित्रकला और मूर्तिकला दोनों का समावेश है। कवि वाह्य जगत के मूर्त्त, अमूर्त्त विषयों को लेकर काव्य की सृष्टि करता है। काव्य कला, संगीत कला के अन्यन्त निकट है। कवि शब्द और अर्थ के माध्यम से अपने मनोभावों का चित्र उपस्थित करता है। जब कवि की विचार धारा अन्तरमुखी हो जाती है तो उसका मन व्यक्तिगत सीमा का अतिक्रमण कर सार्वभौम हो जाता है और उसके मनोभाव जन साधारण के मनोभाव हो जाते हैं। इसलिये उत्तम कोटि के काव्यों में मानव मन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मिलती है।

संगीत और साहित्य का स्थान ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ट है। "सत्यं, शिवं सुन्दरम्" का साक्षात्कार कराने वाली इन्हीं कलाओं का नामकरण "ललितकला" के नाम से हुआ। मानव की सहज स्वयं स्फूर्त प्रेरणाओं को यथार्थ रूप से व्यक्त करने की क्षमता काव्य कला में ही है। मानव की भावनाओं का यथार्थ व्यक्तिकरण शब्द और स्वर इन्हीं दो माध्यमों से हो सका और यही है उनकी सर्वश्रेष्ठता का प्रमाण।

हमारे अनेक कवियों ने अपनी कविता को सुरों में पिरोकर भारत तो क्या विदेशों में भी अपना कीर्तिमान स्थापित किया है। गीति काव्य की परम्परा संस्कृत के जयदेव आदि कवियों से निःसृत होकर हिन्दी के विद्यापति, सूर, मीरा; मराठी के समर्थ रामदास, तुकाराम; बंगाल के चैतन्य, रवीन्द्रनाथ; तमिल के योगराज आदि की ललित एवं सरस वाणी में छनकर संगीतज्ञों के लिए गीतों का भंडार प्रस्तुत करती आ रही है।

संगीत वह ललित कला है जिसमें संगीतज्ञ अपने मनोगत भावों एवं कल्पनाओं को स्वर, लय और ताल के माध्यम से व्यक्त करता है। संगीत का स्थान अन्य ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ट है क्योंकि संगीत का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है। वस्तु, चित्र और मूर्ति इन कलाओं का क्षेत्र सीमित है।

काव्य कला का क्षेत्र इन तीनों कलाओं की अपेक्षा व्यापक अवश्य है किन्तु संगीत कला की अपेक्षा सीमित है। काव्य-कला के लिए प्रतिपाद्य विषय शब्द तथा अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु संगीत के लिए केवल स्वर और भाव ताल की आवश्यकता पड़ती। अनिवद्ध गान में तो ताल की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है, लेकिन लय को नहीं छोड़ा जा सकता। प्राचीन काल में केवल राग-स्वर का स्वतंत्र स्वर विस्तार किया जाता था। वह बड़ा ही आकर्षक, रोचक और रंजक होता था। आज भी स्वर विस्तार की सुमधुर ध्वनि से चेतन तथा अचेतन प्राणी सभी मुग्ध हो जाते हैं।

संगीत कला के द्वारा जो भाव चित्रित किये जाते हैं, उसमें वस्तु, मूर्ति, चित्र और काव्य इन चारों कलाओं का प्रतिविम्ब मिलता है। भवन चित्र तथा मूर्ति के निर्माण में कलाकारों को बड़ी सर्तकता से काम करना पड़ता है। उसे देखना पड़ता है कि किस उपकरण का उपयोग कहाँ किया जाय जिससे किसी भवन चित्र या मूर्ति की स्वाभाविक आकृति की अभिव्यक्ति में बाधा न पड़े। ठीक यही बात संगीत कला के विषय में भी है। गायक, वादक अथवा नर्तक को भी यह देखना पड़ता है कि किस राग में किस स्वर के बाद कौन सा स्वर लगाया जाय कि राग का वास्तविक स्वरूप व्यक्त होने लगे। जहाँ तक काव्य कला का प्रश्न है, उसमें संगीत का अस्तित्व बना रहता है किन्तु संगीत के बिना काव्य का अस्तित्व कदापि नहीं रह सकता। यदि काव्य में से संगीत का तत्व निकाल दिया जाय तो उसका सारा काव्यत्व नष्ट हो जायेगा परन्तु संगीत के साथ ऐसी बात नहीं। इसका उदाहरण संगीत की एक गायकी तराना है जिसमें निर्रथक शब्दों के द्वारा राग का प्रदर्शन होता है।

संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके सौंदर्याकर्षण से चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार के प्राणी मुग्ध हो जाते हैं। जबकि वस्तु चित्र, मूर्त्ति आदि कलाओं द्वारा केवल चेतन प्राणी ही आकृष्ट हो सकते हैं। काव्य कला की अनुभूति भी मनुष्य मात्र ही कर सकता है। किन्तु संगीत एक ऐसी कला है जिसके द्वारा मनुष्य तथा जीव-जन्तु तो मुग्ध होते ही हैं, पेड़-पौधे तथा लताओं में भी हरियाली छा जाती है। संगीत कला अनेक रोगों की निवृत्ति का एक मात्र साधन है जो स्थास्थ्य लाभ, प्राणायाम, आसन तथा अन्यान्य व्यायामों से होता है। संगीत कला एक ओर मानव मनोरंजन का साधन है तो दूसरी ओर आत्म साक्षात्कार के माध्यमों से ईश्वर सानिध्य प्राप्त करने का श्रेयस्कर मार्ग है। संगीत कला अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठ मानी गयी है, तथा इसका स्थान ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है।

संदर्भ

1. श्रीवास्तव हरिश्चन्द्र, संगीत निबंध संग्रह, आलेख- पं0 नन्द किशोर मिश्र

मानव शरीर पर रागजनित तत्वों के प्रभाव

डॉ0 संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

संगीत का मनुष्य शरीर पर होनेवाले समस्त प्रभाव भी संगीत में निहित रस पर ही निर्भर करता है। चूंकि मनुष्य शरीर पर होनेवाला सांगीतिक प्रभाव एवं भावोत्पति भी शरीर के भीतर होनेवाले परिवर्तनों का ही परिणाम होते हैं। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि संगीत में इन समस्त भावों को उत्पन्न करने की शक्ति है जो कि सांगीतिक रसों के द्वारा पूर्ण होती है। इस बात पर यदि गौर करें तो हम पाते है कि उपर्युक्त समस्त भाव जो कि संगीत के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं वे भी शरीर स्थित अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव तथा अन्य आंतरिक शारीरिक परिवर्तनों के बिना संभव ही नहीं हो सकती है। अतः संगीत निश्चित रूप से शरीर के अंदरूनी अवयवों की कार्यप्रणाली को प्रभावित करता है जिसके ही परिणामस्वरूप समस्त शारीरिक भाव उत्पन्न होते हैं।

शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में निहित मंत्रों का प्रयोग मनुष्य का शारीरिक गतिविधियों एवं बिमारियों के उपचार हेतु किया जाता है। आदिकाल से मनुष्य औषधि एवं चिकित्सा पद्धति का समन्वय कर संगीत से मनुष्य का उपचार करता रहा है। संगीत के सात स्वरों की रचना मनुष्य के शरीर की सात प्रकृतियों से की जाती रही है। उचित रागों का प्रयोग मस्तिष्क से नकारात्मक भावनाएं जैसे-अकेलापन तथा पराश्रित रहने को दूर करती है मस्तिष्क और स्नायु रोग संबंधी समस्याओं के समाधान में प्रतीत एक संगीत स्रोत है। व्यक्ति की शारीरिक क्रियाशीलता को यह उत्तेजित करता है एवं स्नायु तंत्रों की उत्तेजना से रोगी की फिजियोथेरेपी के कार्यो में भी सहायता मिलती है। संगीत की अन्य उपचार शक्तियों में शंखनाद द्वारा पेट की कमजोर मांसपेशियों को मजबूत किया जा सकता है। पियानो बजाने से वादक की ऊंगलियों का संयोजन सुधरता है। विकलांग बच्चे संगीत की आवृतियों पर अपने शारीरिक संचालन द्वारा शारीरिक सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। वैज्ञानिक संगीत की लय और धुन का प्रयोग मस्तिष्क को सुधारने, शारीरिक कष्ट को कम करने एवं उच्च एवं निम्न रक्तचाप को नियंत्रित करने में करते हैं। तेज धुनों से निम्न रक्तचाप को नियंत्रित किया जाता है जबकि उच्च रक्तचाप को कम करने की दिशा में मंदगति की धुनें, जिसमें कोमल स्वरों का समावेश होता है, सहायक सिद्ध होती है, कोमल, शुद्ध और तीव्र सांगीतिक स्वर मनुष्य की हृदय गति को बढ़ा सकते हैं या घटा सकते हैं। रक्त प्रवाह एवं रक्त चाप में संगीत की ध्वनियां बहुत प्रभावी होती है। शास्त्रीय संगीत के रागों का मानव शरीर पर प्रभाव पड़ता है - इस विषय में अनेक अनुसंधान हुए हैं। पं0 ओंकारनाथ ठाकुर ने अपने गायन द्वारा कई दिनों से लगातार जगते रहनेवाले मुसोलिनी को सुला दिया, इससे सिद्ध होता है कि उपयुक्त संगीतकार और डॉक्टर मिलकर अनिद्रा से पीड़ित रोगियों को सुला सकते हैं, और रागों का मानव शरीर मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति जब भी राग कलिंगड़ा को सुनता था तो वह बहुत अस्त-व्यस्त हो जाता था और उसके दिल की धड़कन बढ़ जाती थी। इसी प्रकार राग पीलू भी कुछ व्यक्तियों को रूला देने में सक्षम है। किन्तु सभी रागों का एक सा

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं पड़ता। राग हिंडोल द्वारा श्रोता के मन में ताजगी का अहसास कराया जा सकता है, राग श्री शांति एवं नीरवता का प्रतीक है, जबकि राग मल्हार वर्षा ऋतु का भाव पैदा कर श्रृंगारिक भावनाओं को जगाने में समर्थ है। राग भैरव सुनकर मनुष्य को ब्रह्म मुहूर्त एवं प्रातःकाल की भव्यता का अनुभव होता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पं0 रविशंकर द्वारा चार रागों क्रमशः काफी, मिश्रमांड, पूरिया धनाश्री एवं वागेश्वरी रागों के सम्मिलित वादन को 25 मिनट के एक टेप में आबद्ध किया गया था, 37 विद्यार्थियों ने जो प्रतिक्रियायें व्यक्त की वह इस प्रकार थी कि रागेश्वरी संध्या बेला के गहन एवं शांत प्रभाव को पैदा करती है, राग काफी आनंद एवं भक्ति रस से ओत-प्रोत करती है, राग पूरिया धनाश्री शारीरिक थकान, कामना तथा शांति का प्रभाव पैदा करता है।

यह भी देखा गया है कि राग शंकरा, पटदीप एवं हिंडोल द्वारा 8 वर्ष से 18 वर्ष तक के आयुवर्ग के बच्चों में व्यावहारिक बदलाव लाने में मदद मिली है। बड़ौदा में एम0एस0 विश्वविद्यालय द्वारा कुछ प्रयोग उन रोगियों पर किये गए जो हृदय रोग, कुंठित मन एवं कम सुनते थे। यह पाया गया कि रागों मे विहाग, काफी, मालकौंस, रामकली, हिंडोल, बहार, देशकार, ललित और जयजयवंती, इन रोगियों के उपचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इसी प्रकार अंडाना, दरबारी, कान्हड़ा, कलिंगड़ा आदि राग भी विभिन्न रोगों के उपचार में सहायक है। राग जयजयवंती का गायन भी रोग निवृति में विशेष प्रभावी है। राग भैरवी अच्छी निद्रा और रोगियों को शांति प्रदान करती है। स्मरण शक्ति बढ़ाने में राग शिवरंजनी, तनाव को कम करने में राग तोड़ी सहायक सिद्ध हुई है। आचार्य शारंगदेव ने स्वरों के चक्र का कोशिका, स्नायुतंत्र धमनियों एवं मनुष्य की शारीरिक संरचना से संबंध बताया। पं0 अहोबल ने भी बृहद्देशी में भारतीय संगीत की 22 श्रुतियों का मनुष्य के शरीर को 22 धमनियों से संबंध बताया है। इसी प्रकार नारद ने संगीत मकरंद में कहा है कि दीर्घायु, धर्म, चातुर्य, सम्पदा, अच्छी फसल, लाभ, समृद्धि एवं संतान के लिए संपूर्ण रागों का गायन होना चाहिए। षाड्व रागों का प्रयोग युद्ध में विजय प्राप्त करने, सौंदर्य प्राप्त करने, यौवन एवं वीर पुरुषों की गाथा गान में विशेष प्रभावी होता है। जबकि औडव राग रोगों के निदान में, शत्रु विजय में, दुःख एवं [illegible] पर विजय प्राप्त करने एवं निर्धनता तथा [illegible] स्वास्थ्य ठीक करने में विशेष प्रभावी सिद्ध होते [illegible]

डॉ0 मनोरमा शर्मा ने अपने ग्रंथ 'Music Therapy' में लिखा है - *"It is only the simple rythms and tunes of music which can the patients. Blowing on the horn improve abdominal muscles weakness. Playing on the cello improus the working capabilities of a polio victim piano playing improues fingers coordination of a players. The blind ones are helped to have a career in music. Crippled children develope coordination of limbs by moving with rhythm of music. Therapy helps in improving the stammering defects, over excitement and interiority coplex by participation teachings. Music also has effect on the physiology of human being various other effects like curing the insomania, reducing the pain of the body, normalising the low blood pressure are well known. Rag and Raginies can successfully be used for the treatment of various diseases."*

इसी तरह संगीत चिकित्सा पर अनुसंधानरत 'राग रिसर्च सेन्टर' ने कुछ विशिष्ट रागों को कुछ रोग विशेष पर काफी प्रभावी पाया है। समाचार पत्र 'फ्री प्रेस जेनरल' में प्रकाशित समाचार के अनुसार-

"Multi disciplinary research effort by the Raga Reserach centre here promoted by the Tamil Nadu government has found that the much acctained "Anual variable" raga of Karnatic music can substantially reduce hypertension."[1]

अर्थात् राग अनुसंधान केन्द्र द्वारा विविध अनुशासित शोध प्रयत्न जो कि तमिलनाडु सरकार

के द्वारा स्थापित है ने पाया है कि कई दावे हैं कि कर्नाटक संगीत का राग आनंद भैरवी वास्तव में रक्तचाप को कम करता है।

अनुसंधान की विस्तृत रूप से जानकारी देते हुए संस्था के अध्यक्ष तथा प्रसिद्ध वायलिन वादक केन्नाकुड्डी वैद्यनाथ ने बताया कि तीन चिकित्सको के निरीक्षण में उनके भिन्न-भिन्न रोगियों के विपरीत खंडों पर अध्ययन किया गया। जिससे राग के द्वारा संगीत चिकित्सा के फलस्वरूप रक्तचाप में कमी निश्चित तौर पर पायी गयी। यथा-

Studies undertaken by three doctors on a cross section of their respective patients difinitely showed reduction in their blood pressure after the music therapy with the raga.[2]

संगीत चिकित्सा में अनुसंधानरत कुर्ला महाराष्ट्र निवासी चिकित्सक डॉ0 बालाजी तांबे ने अपने प्रयोगों में कई भारतीय शास्त्रीय संगीत के रागों के कई रोग विशेषज्ञ के लिए लाभकारी पाया है। समाचार पत्र "डेली" को दिए गए साक्षात्कार में डॉ0 ताम्बे के अनुसार -

"The ragas Bhupali and Todi gave tremendous relief to high blood pressure patients while ragas Malkauns and Asawari helped as a restorative in cases of low blood pressure. The raga Bhairavi induced mental relavation and sleep for those aflicted by hypertension and schitopherinia that occasionally manifested in violent behaviour."[3]

अर्थात् राग भूपाली तथा तोड़ी उच्च रक्तचाप को ठीक करता है जबकि राग मालकौंस तथा असावरी निम्न रक्तचाप के रोगियों को पूर्व अवस्था में पहुंचाने में सहायता करते हैं। राग भैरवी मानसिक शिथिलता लाता है तथा उच्च रक्तचाप तथा सिजोफ्रेनियां तीव्र आचरण भी प्रकट करते हैं।

इसी तरह कुछ अन्य रागों का शरीर पर अपना-अपना रोग निवारक प्रभाव पाया गया है। जैसे -

The raga shivaranjani was found to create a positive frame of mind for mental work, introspection and pshychological churning charactaristic of intellectuals Dr. Tambe said the raga barang was very efficacious in curing epilepsy patients.[4]

अर्थात् राग शिवरंजनी को मानसिक कार्य बुद्धि संबंधी अन्तरावलोकन तथा मानसिक मंथन चारित्रिक हेतु मस्तिष्क धनात्मक आवरण करनेवाला पाया गया। डॉ0 ताम्बे के अनुसार राग वैरागी मिर्गी रोगियों को स्वस्थ करने हेतु बहुत प्रभावी है।

संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में किशनगढ़ के गायक अमरचंद ने राग हमीर के द्वारा हृदयरोग दूर करने में सफलता प्राप्त की थी। पं0 पन्नालाल पीयूष के अनुसार आसावरी राग से मस्तिष्कीय रोग 100 प्रतिशत ठीक होते हैं।[5]

रागों से रोगों के उपचार विषय में वर्णन करते हुए पं0 श्री राम शर्मा ने अपनी रचित वांग्मय "शब्द ब्रह्म नाद ब्रह्म" में लिखा है आसावरी राग से सरदर्द दूर होने, वीणा पर जयजयवन्ती राग से लकवे की शिकायत दूर होने के कई उदाहरण सामने आ चुके हैं।[6]

इस तरह हमें कई चिकित्सा विशेषज्ञों एवं संगीतज्ञों के रागों और रोगों संबंधी विश्लेषण प्राप्त होते हैं जिसके अंतर्गत उन्होंने रागों का एवं वे राग किस रोग हेतु उपयोगी हैं इसका वर्णन किया है। जिससे ये प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वर्णित रोगों पर ये समस्त राग किस तरह अपना प्रभाव डालते हैं। इस संबंध में किसी विद्वान ने विस्तृत वर्णन नहीं किया है जिससे ये प्रतीत होता है कि उपर्युक्त रागों के रोग उपचारिक प्रकृति का वर्णन समस्त विशेषज्ञों ने अपने प्रयोगों एवं अनुभवों के आधार पर ही किया होगा।

जैसा कि हम जानते हैं कि हर राग का अपना एक स्वरूप होता है जिसके कारण ही वह राग पहचाना जाता है अतः अपने एक निश्चित स्वरूप ही प्रभाव डालता होगा एवं किसी रोग विशेष पर ज्यादा प्रभावी सिद्ध होता होगा। अतः उपर्युक्त विशेषज्ञों ने अपने अनुभवों से प्राप्त निष्कर्षों के

आधार पर ही रागों से रोगों के उपचार का वर्णन किया होगा।

संगीत चिकित्सा पर शोध कर रहे श्री निवासन रागों में निहित श्रुति, मींड तथा लय को इस प्रभाव का मुख्य कारण मानते हैं। समाचार पत्र "फ्री प्रेस जेनरल" मे प्रकाशित लेख के अनुसार -

Dr.Shrinivashan demonstrated how Indian music can be used both actively and passively intherapy. Elements like shruti (the pitch of the tambura drowna) the elongated notes in the vilambit tempo, the gliding notes called meed, the varieties of rhythumas also vedic chants in cluding "Om" wire demonstrated by him.[7]

अर्थात् डॉ0 श्रीनिवासन ने वर्णित किया कि किस तरह भारतीय संगीत प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उपयोग किया जा सकता है। तत्व जैसे श्रुति (तानपुरे की निचली तीव्रता) विलंबित लय मे फैले हुए स्वर, चुपके से जानेवाले स्वर मींड, वैदिक मंत्रों की लय की विभिन्नता ओम को मिलाकर भी उनके द्वारा प्रदर्शन किया गया है।

चूंकि हमारे भारतीय संगीत में रागों का अपना एक विशेष स्वरूप है जो श्रुति, मींड, गमक आदि के कारण निर्माण होता है। अतः यदि हम यह कहें कि राग के प्रभावी होने में उनके अंतर्गत उपयोगी स्वरों की श्रुतियां आदि बहुत ही महत्वपूर्ण होती है तो कोई गलत नहीं होगा। जैसा कि हम जानते हैं कि एक ही स्वर भिन्न-भिन्न रागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त होता है। यह श्रुति भेद के कारण ही संभव हो पाता है एवं राग विशेष भी इसी स्वर के कारण पहचाना जाता है। अतः रागों के प्रभावी होने में श्रुति, मींड, मुर्की गमक आदि अंगों की भूमिका से नकारा नहीं जा सकता।

अतः राग स्वरूप एवं स्वर संगतियों के आधार पर किसी राग विशेष का किसी रोग विशेष पर विशेष रूप से प्रभावी होना सत्य ही प्रतीत होता है एवं प्रयोग से प्राप्त परिणाम भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। विशेषज्ञ इसे रागों से निकलनेवाली ध्वनि तरंगों का प्रभाव मानते हैं उनके अनुसार रागों से निकलने वाली ध्वनि तरंगों में इन्फ्रासोनिक तथा पैरासोनिक ध्वनि तरंगें भी शामिल होती हैं तथा इन ध्वनि तरंगों की संख्या तीव्रता हमेशा एक सी रहती है। अतः इन रागों का किसी रोग विशेष पर प्रभावी होना संभव है।

संदर्भ :

1. "फ्री प्रेस जनरल" रेमेडी फॉर हाईपर टेन्सन 4.1.93
2. "फ्री प्रेस जनरल" रेमेडी फॉर हाईपर टेन्सन 4.1.93
3. "डेली" समाचार पत्र लेख म्यूजिक हेलपटु हीलिंग फास्टर 16.10.92
4. वही, 16.10.92
5. लेखक- अपसिंगेकर रजनी, मराठी पत्रिका "लोकप्रभा" लेख-संगीताने रोगोपचार 4-4-97, पृ0 41
6. शर्मा आचार्य श्री राम, वांगमय् "शब्द ब्रह्म नाद ब्रह्म", पृ0 6.2
7. समाचार पत्र "फ्री प्रेस जनरल" लेख-म्युजिक थेरेपी अन्यू क्योर, 22.10.1989

ाज की शिक्षानीति और संगीत

डॉ0 अश्विनी कुमार सिंह

ीत शब्द सुनते ही मन में एक उल्लासपूर्ण और र्णप्रिय शब्दों को सुनने की उत्सुकता जाग जाती । जैसा कि हमें पहले से ज्ञात है कि गायन, वादन ार नृत्य के सामूहिक समन्वय को संगीत कहते हैं। ाज की शिक्षानीति में संगीत को भी एक विषय के प में शामिल किया गया है जिससे हमें यह विदित ता है कि आधुनिक सोच के हमारे प्रज्ञावान क्षकगण और शिक्षित सोचवाले विद्वतजनों की ये ांतरिक अभिलाषा है कि हमारे समाज का कोई भी र्ग संगीत से अनभिज्ञ न रहे तथा हर वर्ग के लोगों े मन में संगीत की वास्तविकता का मान हो और सकी सुकुमारता, सात्विकता हर प्राणी के मन में ूजा और साधना बनकर समाज के कलुष-भेद को मेटा दे और संसार के हर प्राणी के मन में पवित्र ातावरण को जन्म दे तभी हमारा समाज एक स्वस्थ और सुन्दर देश का निर्माण कर पायेगा।

प्राचीनकाल से लेकर अब तक संगीत को गुरूमुखी विद्या मानी गई जो गुरू के सामने बैठकर और सुनकर उनसे सीखी जाती थी परंतु आज की परिस्थिति कुछ अलग है। आज की शिक्षानीति में संगीत को एक विषय के रूप में शामिल किया गया है जिसके कुछ फायदे भी हैं और कुछ नुकसान भी क्योंकि इस सृष्टि के नियम ही कुछ ऐसे हैं कि संसार में नफा-नुकसान, सुख-दुख, अमीरी-गरीबी, राग-द्वेष, गुण-अवगुण आदि-आदि, पे सारी चीजें साथ-साथ चलती हैं।

अतः हमें इस बात पर प्रकाश डालना है कि इस नई शिक्षानीति में संगीत को सार्वजनिक शिक्षा का रूप देने के गुण और अवगुण क्या है?

भारतीय शास्त्रीय संगीत शिक्षा के इतिहास का आरंभ वैदिक काल से माना जाता है। वैदिक काल से मध्ययुग तक संगीत की शिक्षा गुरू-शिष्य परंपरा द्वारा दी जाती रही है। उस समय में स्वर, लय और ताल के द्वारा ऋचाओं का गायन हुआ करता था। हृदय से कंठ और तालु से निःसृत स्वरों का अभ्यास गुरूकुल में कराया जाता था। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित मात्राओं का ज्ञान लय और ताल के साथ कराया जाता था।

मुगलकाल में वास्तविक आचार्यों के अभाव के कारण दरबारी संगीत का निरंकुश प्राधान्य रहा और संप्रदायगत संगीत शिक्षा पद्धति का लोप हो गया। पेशेवर संगीत की कद्र बढ़ गई। कला की अपेक्षा कौशल बड़ा हो गया। संगीत में प्रतियोगिता आ गई। अतः भारतीय संगीत रियाज के माध्यम से कौशल-प्रदर्शन की वस्तु रह गयी। मुगलकाल में एक ओर दरबारी संगीत था तो दूसरी ओर उत्तर भारत में धर्मचारी सूफी-संतों और भक्तों के संगीतमय धर्मोपदेश से भारतीय संगीत अपनी उच्चतम स्थिति को प्राप्त हो रहा था।

हमारे भारत में शास्त्रीय संगीत शिक्षा में सबसे मुख्य विशेषता यह है कि इस में नियमों और सिद्धांतों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। शास्त्रीय संगीत की प्राचीन गायकी ध्रुपद गायकी मानी गई है जो कि बिना गुरूज्ञान के द्वारा संभव नहीं है।

आज के विद्यार्थियों को संगीत सिखाने के लिए नई-नई शिक्षा पद्धतियां विकसित हो रही हैं। इन शिक्षा पद्धति को लेकर शिक्षकों के मन में कई सवाल उत्पन्न हो रहे हैं कि क्या करें? और विद्यार्थियों

फकल्टी ऑफ परफोर्मिंग आर्ट्स, एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा (गुजरात)

को कैसे सिखाएं क्योंकि आज के शिक्षार्थियों की मानसिकता सबकुछ जल्दी सीख लेने की है। अर्थात् उनमें इतना धैर्य नहीं है कि घंटों बैठकर एक ही चीज को बार-बार अभ्यास करें।

अब शिक्षकों के सामने समस्या यह है कि जो विद्यार्थी शुरू-शुरू में संगीत विषय में प्रवेश लेता है वह पाठ्यक्रम स्नातक की होती है जो कि बिना रियाज और स्वर ज्ञान के सीख पाना मुश्किल है। जबकि गुरू के पास सीखने जाने पर सबसे पहले अलंकार का अभ्यास करवाया जाता है। अब अगर शिक्षक पहले अलंकार करवाते हैं तो बच्चों का पाठ्यक्रम पूरा नहीं होगा और अगर पाठ्यक्रम पूरा करवाते हैं तो विद्यार्थी संगीत की बारिकियों को समझकर गा नहीं पायेंगे क्योंकि उन्हें स्वर, ताल और लय का ज्ञान नहीं है।

अतः एक ओर तो इस बात की बेहद खुशी होती है कि आज का युग संगीत के लिए और विद्यार्थियों के लिए भी स्वर्णीम युग है, क्योंकि पाठ्यक्रम में शामिल होने से हर वर्ग के लोग संगीत सीख सकते हैं जो कि प्राचीन युग में ऐसा संभव नहीं था। उस समय संगीत सीखने की इच्छा होते हुए भी साधन के और गुरू के अभाव में लोग सीख नहीं पाते थे। या जो सीखना चाहते थे उन्हें गुरू के पास गुरूकुल में रहकर सीखना पड़ता था और गुरू के हर आज्ञा का पालन करना पड़ता था भले ही गुरू की आज्ञा कितनी भी कठिन हो तथा दूसरी तरफ मन में एक भय भी होता है कि इस बदलते परिवेश में विद्यार्थी हर क्षेत्र में 'शार्ट-कट' अपनाना चाहते हैं। जो कि संगीत में नहीं होता तो फिर आगे चलकर हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत या सुगम संगीत का भविष्य क्या होगा?

आज का मानव भूमंडलीकरण के युग में संशय की स्थिति में खड़ा है। बीसवीं सदी के अंतिम चरण में शिक्षा का चेहरा जितनी तीव्र गति से बदला है गति और परिवर्तन दोनों चौंकाने वाली बातें संगीत मानव के लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों से साधना का विषय है तथा भारतीय संस्कृ का अभिन्न अंग है। आज संगीत की इस महत्व भूमिका को विस्मृत कर दिया गया है। भारत अधिकांश विद्यालयों में प्रारंभिक और माध्यमि विद्यालयों में संगीत शिक्षक का प्रावधान और व्यवस नहीं है जो आवश्यक रूप से होनी चाहिए। बच्चों को किसी भी विषय के बारे में प्रारंभिक ज्ञा न दिया जाए और डाइरेक्ट कॉलेज में उस विषय परिचय हो तो वो शिक्षा अपूर्ण होगी। विद्यालयों संगीत का सामान्य शिक्षा के प्रावधान से कई लाभ होंगे, जिनमें सबसे पहले बच्चों के व्यक्तित्व सर्वांगीन विकास होगा, जिससे हमारा समाज सुसंस्कृ होगा और मानवीय मूल्यों का पतन जो आज दिख देता है वह उत्कृष्ट अभिरूचि के विकास के सा कुछ सीमा तक नियंत्रित हो सकेगा इसमें तनिक संशय नहीं है।

संगीत मानवतावाद का पोषक है तथा संगी से प्रेम सहिष्णुता व विश्व-बंधुत्व की भावना सहज ही विकास होता है। संगीत भावनाओं सीमा से परे अंतर्राष्ट्रीय भाषा आत्मा की भाषा इसलिए इसे एक ऐसे माध्यम के रूप में स्वीका गया है जो संपूर्ण विश्व को एक सूत्र में बांधता

संदर्भ :

1. नारायण डॉ0 पुष्पम, 'भैरवी' संगीत पत्रिका, अंक पृ0-48
2. नारायण डॉ0 पुष्पम, 'भैरवी' संगीत पत्रिका, अंक पृ0-52
3. मिश्र पं0 विजय शंकर, तबला पुराण, पृ0-212
4. नारायण डॉ0 पुष्पम, 'भैरवी' संगीत पत्रिका, अगस्त 2010, पृ0-18-19

अवसादग्रस्त दृष्टिबाधितों के उपचार में संगीत एक सशक्त माध्यम

श्रीमती गुड्डी पाल

हमारे समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग उपेक्षित है, जिसे साधारण बोलचाल में 'विकलांग' या 'अक्षम' कहते है। विकलांगता का शाब्दिक अर्थ है- अंग से पूर्णतः वंचित होना। विकलांगता मनुष्य की इन्द्रियों एवं मन के कार्य करने की क्षमता को प्रभावित करती है और व्यक्ति अपने को अपंग और पराधीन समझने को बाध्य हो जाता है। विकलांगता किसी भी आयु, लिंग, वर्ग, जाति, प्रजाति अथवा पृष्ठभूमि के व्यक्ति को किसी भी समय हो सकती है।

विकलांगता की परिभाषाः- 'अलग-अलग देशों में विकलांगता की परिभाषा अलग-अलग है। भारत में भी पहले अलग-अलग उद्देश्यों के लिए विकलांगता की परिभाषा अलग-अलग थी। 1995 ई0 में पारित विकलांगता कानून [The persons with disability (equal opportunites, Protction of right and full participation) Act 1995] के प्रथम अध्याय के अनुसार अब एक सर्वमान्य परिभाषा तैयार की गई है, जिसके तहत निम्न व्यक्ति विकलांग माने जाएंगे -

(1) श्रवण बाधित व्यक्ति
(2) अस्थि विकलांग व्यक्ति
(3) मानसिक रूप से अविकसित व्यक्ति
(4) मानसिक रोगी
(5) कुष्ठ रोग के उपचार के पश्चात् विकलांग व्यक्ति
(6) नेत्रहीन व्यक्ति
(7) अल्प दृष्टिवान व्यक्ति[1]

इन सात वर्गों में से यहाँ पर हम केवल दृष्टिबाधित वर्ग पर ही चर्चा करेगें।

भारत में कुछ समय पूर्व तक अधंत्व की कोई परिभाषा नही थी। भारत सरकार की रिपोर्ट ऑन ब्लाइंडनेस-1944' में इस प्रकार की परिभाषा का सुझाव दिया गया था-

"जो व्यक्ति एक गज की दूरी पर हाथ की उंगलियाँ न गिन सकता हो, उसे दृष्टिहीन माना जाए।" सरकार द्वारा मान्य इस परिभाषा के आधार पर स्कूल और संस्थाओं में प्रवेश दिए जाते थे।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर डब्लू सी डब्लू बी ने 1954 ई0 में दृष्टिहीनता की परिभाषा निश्चित की । इस परिभाषा के तीन पहलू थे-

1. जिस व्यक्ति में दृष्टि का पूर्ण अभाव हो उसे दृष्टिहीन माना जाए।
2. चश्मा लगाने के बाद भी जिस व्यक्ति की दृष्टि की मात्र स्नैलन चार्ट के अनुसार 6/60 तक सीमित हो उसे दृष्टिहीन माना जाए।
3. जिस व्यक्ति का दृष्टिक्षेत्र केवल 20 डिग्री तक सीमित हो उसे दृष्टिहीन माना जाए।

भारत ने भी इस परिभाषा को मान्यता दी और सन् 1968-69 ई0 से इस परिभाषा के आधार पर विद्यालय में प्रवेश और छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगी।[3]

जिन दृष्टिबाधितों की नेत्र-ज्योति जन्म से दो बर्ष की उम्र तक चली गई हो उन्हें जन्मजात दृष्टिबाधित माना जाता है। ऐसे व्यक्ति अपने जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण रखते हुए समाज के साथ आसानी से समायोजित हो जाते है, अपेक्षाकृत

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.के.जे.कन्या इंटर कॉलेज, दिवाई, बुलन्द शहर, उ0प्र0

उन दृष्टिबाधितों के जिनकी नेत्र-ज्योति 7-8 वर्ष की उम्र होने के पश्चात् गई हो, ऐसे व्यक्तियों को आकस्मिक दृष्टिबाधित कहा जाता है। अचानक दृष्टि चले जाने के कारण बड़ी उम्र के पुरूषों की अपेक्षा महिलाएं अपनी भावुक प्रवृत्ति के कारण स्वयं को अधिक लाचार व असहाय मानने लगती हैं।

आकस्मिक दृष्टिबाधित' के फलस्वरूप मानसिक तनाव, कुंठा, चिड़चिड़ापन, क्रोध, हतोत्साहन, अकेले रहना, दिवा स्वप्नों में खोए रहना जैसे अवसाद दिन-प्रतिदिन बढ़तें जाते हैं।

'संवेदनशीलता का संतुलन बिगड़ जाने और उसके अधिक दिनों तक स्थिर रहने पर यह 'विषाद' रोग का रूप ले लेता है। इसमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बिखर जाता है।[4] कई बार विषादग्रस्त व्यक्ति के मन में आत्महत्या कर लेने जैसे हीन विचार भी घर कर जाते हैं। 'मुख्य रूप से विषाद की दो अवस्थाएं मानी गई हैं-

1. प्रतिक्रियात्मक विषाद- कुछ लोगों का मन ज्यादा तनाव सहन नही कर पाता वे प्रतिकूल हालात में समझौता नहीं कर पाते और विषाद से घिर जाते है।
2. आन्तरिक विषादः- यह भीतर से उद्भूत होता है तथा बिना किसी स्पष्ट कारण के विकसित होता हैं। सामान्यतः यह मस्तिष्क में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों के कारण होता है। कुछ लोग अच्छे हालात में भी विषादग्रस्त रहते है। इसे ही मनोचिकित्सकों ने आन्तरिक विषाद की संज्ञा दी है।[5]

बहुत समय से मनोवैज्ञानिक तथा मनोचिकित्सक संगीत तथा इसकी रोगनाशक शक्तियों के बारे में प्रयोग कर रहे है जिनके महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त हुए है तथा इसके फलस्वरूप संगीत- चिकित्सा विज्ञान नामक नवीन धारा का विकास हुआ है।

डा0 राजेश्वरी वैकल्पिक चिकित्सा की विशेषज्ञ है तथा तिरूलेनवैली, तमिलनाडू में आरोग्य आश्रम नामक एन जी ओ चलाती है जहाँ स्वास्थ्य की देखभाल, शिक्षा, व्यवसायिक प्रशिक्षण तथा [illegible] विकलांग बालको के पुनर्वास की सुविधा दी [illegible] है।[6] संगीत चिकित्सा एक ऐसी विधि है जो विक [illegible] व दृष्टिबाधित बालकों के वातावरण में फै [illegible] वाले शारीरिक मानसिक तथा संवेगात्मक [illegible] का समन्वय करती है। डा0 राजेश्वरी के [illegible] बनाई गई इस चिकित्सा-प्रक्रिया के दौरान [illegible] बालक का परिचय किसी संगीत वाद्य से [illegible] जाता है। बालक पहले चिकित्सक को यह [illegible] बजाते हुए सुनता है। बालक उस ध्वनि से प्र [illegible] होकर व बाध्य होकर उस वाद्य को छूने के [illegible] आगे बढ़ता है। धीरे-धीरे वह चिकित्सक [illegible] कार्यकलापों का अनुकरण करने का प्रयास क [illegible] तथा उसी प्रकार की ध्वनि को उत्पन्न करने [illegible] प्रयास करता है। जब वह ध्वनि उत्पन्न कर ले [illegible] तो उसका यह प्रयास बालक का बाहर के संस [illegible] सम्पर्क बनाने की दिशा में पहला कदम होता [illegible]

संगीत की विशिष्ट प्रविधियाँ विकलांग बा [illegible] को अपनी गति से उन्नति करने में सहायता [illegible] है। संगीत, ऐसे बालकों तथा वातावरण के [illegible] बौद्धिक तथा संवेगात्मक अवरोधों को दूर कर [illegible] और उनकी बिखरी हुई मानसिक व शा [illegible] योग्यताओं को समन्वित करता है।

सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि संगीत [illegible] प्रकार ऐसे चमत्कार कर सकता है । 'डा राजे [illegible] के अनुसार व्यक्ति के शरीर की लय संगीत [illegible] जनित बाह्य लय के सम्पर्क में आती है [illegible] फलस्वरूप शरीर में स्थित लय जो प्रतिक्रिया [illegible] है उसके आश्चर्य जनक चिकित्सीय परिणाम हो [illegible] लेकिन इन परिणामों को प्राप्त करने के लिए [illegible] आवश्यक है कि संगीत शांतिदायक हो तथा उ [illegible] गायन-वादन सर्वथा त्रुटि रहित हो। दूसरे शब्दों [illegible] असंगत, बेसुरा तथा कर्णकटु संगीत जब कान [illegible] वाली ऊँचाई पर गाया बजाया जाता है तो उ [illegible] प्रभाव सर्वथा विपरीत होता है।[8]

संगीत द्वारा भावुक व अवसादग्रस्त दृष्टिबाधि [illegible] की सहनशीलता बढ़ाकर संवेदनशीलता में कमी [illegible]

जा सकती है। इससे मस्तिष्क को सुकून मिलता है तथा उसमें शक्ति का संचार होता है। जहाँ मस्तिष्क सक्रिय हुआ वही व्यक्ति सही गलत का निर्णय लेने में सक्षम हो जाता है।

'भारत में लोक-संगीत बहुत समृद्ध है । संगीत और नृत्य को मिलाकर भारतीय ढ़ंग से चिकित्सा करनी चाहिए। जो नेत्रहीन है उनमें श्रवण कला अधिक विकसित रहती है वे चिह्नों के माध्यम से जल्दी ही सीख जाते हैं।[9] दिखाई न देने के कारण दृष्टिबाधितों का पूरा ध्यान श्रवणेन्द्रियों पर केन्द्रित रहता है और संगीत में नेत्रेन्द्रियों की अपेक्षा कर्णेन्द्रियों का विशेष महत्व होता है ।

अतः दृष्टिबाधितों के स्वभाव, उनके अन्तर्मन स्वभाव को नियंत्रित करने तथा अन्तर्मन में सन्निहित शक्तियों एवं क्षमताओं को उभारने उनके सृजनात्मक पक्ष को विकसित करने, उस शक्ति से लाभान्वित होने का सर्वोत्तम माध्यम है संगीत।

संदर्भ :

1. संगीत, सितम्बर 1996- पृ -44
2. मिश्र विनोद कुमार, विकलांगों के लिए रोजगार - पृ0 -14
3. आहूजा श्रीमती स्वर्ण, शिक्षक-प्रशिक्षण लेखमाला- पृ0 -161
4. आहूजा श्रीमती स्वर्ण, शिक्षक- प्रशिक्षण लेखमाला पृ0 -161
5. संगीत अक्टूबर 2002, पृ0 26
6. संगीत अक्टूबर 2002, पृ0 26
7. शाह डा शोभना, संगीत- शिक्षण, पृ -14
8. शाह डा शोभना, संगीत- शिक्षण, पृ -14
9. शाह डा शोभना, संगीत- शिक्षण, पृ -14 - 15

बदलता सामाजिक परिवेश एवं संगीत

डॉ0 पुष्पवा

संगीत के अनेक चिंतकों ने आधुनिक भारतीय समाज को संगीत से जोड़ते हुए माना है कि बीसवीं शताब्दी भारतीय संगीत का संक्रमण काल रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय संगीत राजदरबारों की सीमा एवं घरानों में कैद था और प्रारंभ के कुछ वर्ष भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सहयोग देने के कारण पल्लवित और पुष्पित नहीं हो पाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतवर्ष में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। देश के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। प्रजातंत्र की स्थापना हुई, जिससे देश की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में भी बदलाव आए। इन परिवर्तित परिस्थितियों के बीच भारतीय संगीत का भी आधुनिकीकरण हुआ जिसके परिणाम स्वरूप शास्त्रीय संगीत ने एक नई करवटें लीं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना एवं राजनैतिक एकता स्थापित हुई। छोटी-छोटी रियासतों का विलीनीकरण हुआ और इनके स्थानों पर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना हुई। मि0 विम वैनडर मीर ने इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 1947 ई0 के बाद कुछ राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता कायम रखने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। स्वतंत्र अधिकार समाप्ति के उपरांत भी कुछ राजाओं ने संगीत क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया, जिसमें ग्वालियर के राजा सिंधिंया, बड़ौदा के महाराजा सियाजीराव, रामपुर के नवाब हामिद अली खां, बिहार के बेतिया के राजा, दरभंगा के राजा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

फलस्वरूप संगीत राजदरबारों के संकुचित दायरों से बाहर निकला और जन-साधारण से सीधा संपर्क एवं संबंध स्थापित किया। वह संपर्क जो प्राचीनकाल गुरूघर, आश्रमों के बाद मंदिरों में आध्यात्मिक पर कायम थी तथा ईश्वरीय साक्षात्कार का माध्य थी कालांतर में राजघरानों और दरबारों में विलासि और राज-राजवाड़ों के स्तुतिगान में पारंगत नव के भोग एवं आमलोगों द्वारा तिरस्कृत हो चारदिव में बंद थी, सीधे सहृदय रसज्ञ जन-मानस के ली सुलभ हो गई। लोकतंत्र की स्थापना के सा आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं जैसी चीज के आवागमन से संगीत का प्रचार व प्रसार दूर-दू तक हुआ, जिससे जनता में सीधे संगीत के प्रति जागृति आई। आकाशवाणी, दूरदर्शन के माध्यमों ने सभी प्रकार के संगीत को एक जगह ला इकट्ठा किया और एक साथ सभी को सुनने की सुविध प्रदान की। संगीत के इतिहास में यह एक क्रांतिकारी घटना थी। संचार के माध्यमों ने घरानों के बंधनों से निकलकर समाज में संगीत आम वर्गों में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ। फिल्म ने भी संगीत की लोकप्रियता में चार चांद लगा दिये। फिल्मी संगीत निर्देशक, गायक, तथा गीत-रचनाकार ने ऐसी कर्णप्रिय और लोक आस्था एवं संस्कृति से जुड़े धुन एवं बोल तैयार किये और लिखे कि संगीत उच्च से उच्च तथा निम्न से निम्न तबकों के जीवन सहचर्य का माध्यम बन गया। पत्र-पत्रिकाओं में संगीत लेख, सामग्री आदि प्रकाशित कर संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष से जनता को अवगत कराया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय चिंतन पद्धति एवं सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय युग सामाजिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। सामाजिक

पूर्व शोध छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन और क्रांति का शंखनाद हो चुका था। आजादी के साथ ही हमारे नेताओं, समाज-सुधारकों, जननायकों ने सामाजिक अंधविश्वास, कुरीतियों के विरूद्ध आवाज उठाई थी, जिसमें पर्दा प्रथा, अशिक्षा, बाल विवाह, सती प्रथा, मूर्ति-पूजा, जाति प्रथा जैसी कुरीतियों व मंत्र-तंत्र, जादू-टोने जैसे अंधविश्वासों को जड़ों से उखाड़ फेंकने के लिए कमर कस ली थी। संगीत कला का उपयोग भी इसी आंदोलन को सफल बनाने के लिए किया गया था। संगीत जन-आकर्षण एवं प्रचार-प्रसार के लिए सबसे सरल और सहज माध्यम माना गया है। मनुष्य की जन्मजात प्रवृति है कि वह आनंद की प्राप्ति के नये-नये तरीके निकालता है। भगवान द्वारा मनुष्य जाति को दिये गए सबसे प्रमुख वरदानों में संगीत सर्वप्रथम है। मनुष्य स्वभावगत तथा सामाजिक परिवेश एवं चिंतन के फलस्वरूप जन्म से मृत्यु-पर्यन्त सुख-दुख को संगीत की स्वरलहरियों में प्रवाहित कर लेता है। जिस कारण देशभक्ति के गीत ही जन चेतना एवं स्वतंत्रता आंदोलन का आधारभूत स्तंभ है।

स्वाधीनता के उपरांत भारतीय समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया कि सामंतवाद का अंत हो गया, किन्तु उसकी जगह पूंजीवाद ने ले ली। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत नव-निर्मित पूंजीपति समाज भारतीय संगीत की ओर आकृष्ट हुआ।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक संगीत व नृत्य वेश्याओं व कोठों की वस्तु समझी जाती थी। सभ्रान्त परिवार की महिलाएं संगीत नहीं सीखा करती थी यदि सीखी भी तो सिर्फ घर की चारदिवारी तक सिमट कर रह गयीं। कुलीन घराने की लड़कियों के बारे में संगीत शिक्षण की बात सोचना भी नैतिक अपराध की श्रेणी में आता था। इसका मुख्य कारण था कि उत्तर भारतीय संगीत की बंदिशों के साहित्य में मानवीय व्यवहार के विभिन्न भावों का प्रकट न होना आम बात थी, जिसमें श्रृंगार की और श्रृंगार रस की अधिकता दिखाई देती है। समाज में इस बात को पुष्ट किया गया कि यह कल्पनाएं हमारी हीन अभिरूचि को दर्शाती है क्योंकि भद्र समाज ने ही हमारे संगीत और संगीतज्ञों को बहिष्कृत किया।

फलस्वरूप संगीत आध्यात्मिक परंपरा से विलग हो मनोरंजन तथा विलासिता का साधन मात्र बन गया । परंतु धनाढ्य मध्यवर्गीय समाज के उदय के पश्चात् संगीत जो कि निम्न स्तरीय वस्तु समझी जाती थी उसे उच्च दृष्टि से पुनः देखा जाने लगा। संगीत की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने में आधुनिक भारत के दो महान संगीतविद् धर्मपरायण ब्राह्मण मनीषि चिंतक पं. श्री विष्णुनारायण भातखण्डे जी एवं पं0 श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने काफी योगदान दिया। यह इन्हीं दोनों संतों का परिणाम है कि संगीत की नई स्वरलिपि पद्धति एवं बंदिशों ने पुनः भारतीय शाश्वत परंपरा, प्राचीनकालीन संगीत-चिंतन की आध्यात्मिक पद्धति को फिर से आमजन में पहुंचाया।

संगीत की लोकप्रियता एवं संगीत के प्रति जनमानस का लगाव के फलस्वरूप संगीत के आश्रय दाताओं की संख्या बढ़ती गई क्योंकि यह धनाढ्य वर्ग संगीत को प्रोत्साहन देने में काफी रूचि रखने लगा। धीरे-धीरे संगीत को समाज में बहुत बढ़ावा भी मिला और संगीत उच्च स्थान पर काबिज हो गया, जिसके कारण संगीत-कला में निपुण होना एक अतिरिक्त ईश्वरीय प्रदत्त योग्यता समझी जाने लगी। मध्यवर्गीय तथा उच्चवर्गीय परिवार में संगीत-शिक्षण का प्रचार प्रसार हुआ।

भारतीय जनमानस के हृदय एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के आंदोलन के प्रणेता पं0 बाल गंगाधर तिलक जी ने शिवजी एवं गणेश उत्सव के माध्यम से जनमानस में संस्कृति एवं भारतीय सभ्यता के प्रति सम्मान व आदर की भावना जागृत करने का बीड़ा उठाया। इन महोत्सवों से लोगों को आकृष्ट करना सरल था क्योंकि इसका सबसे सरल माध्यम था, संगीतमय जलसा। संगीत व नाट्यकला माध्यम से लोगों में चेतना की अभिव्यक्ति इन जलसों में होती थी। कहने का तात्पर्य यही है कि उस समय संगीत को जन चेतना का साधन बनाया, जिससे लोगों का संगीत के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आया।

संगीत शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वतंत्र भारत में अनेक कार्य हुए। राजा-महाराजाओं के दरबार तथा घरानेदार उस्तादों की वंश-परंपरा के सीमित दायरों से निकल संगीत ने स्कूल कॉलेजों और विश्वविद्यालयों

में स्थान प्राप्त किया। शिक्षा के क्षेत्र में भी नवजागरण एवं संगीत की गरिमा को कायम रखने में वही दो महान उत्तर भारतीय ब्राह्मण विभूति पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे और पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी का ही योगदान है। उन्होंने संगीत की दुर्दशा को महसूस किया और कठोरतम परिश्रम से प्राप्त विद्या को समाज में प्रतिष्ठा दिलवाने हेतु अनेक संघर्ष किये।

इनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप संगीत शिक्षा के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। अनेक नवीन संगीत शालाओं का निर्माण हुआ। अध्ययन, चिंतन व मनन ने संगीत की घरानेदार और मध्यकालीन परंपरा के जकड़न को तोड़ने में सहायता पहुंचाई। श्री के0पी0 मुखर्जी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि "स्वतंत्र भारत में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत भी स्वतंत्र हुआ, या यूं कहें कि शास्त्र की जकड़नों से मुक्त होने का उसने प्रयास किया।" लोगों ने संगीत के प्रति एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। पुराने या मध्यकालीन समय के कलाकार ईर्ष्यात्मक मनोवृति के कारण अपनी 'चीज' केवल अपनी संतानों को ही सिखाता था और अपनी कला को अपने तक ही सीमित रखता था किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में संगीत के समावेश और सामाजिक परिवेश में संगीत के उत्थान से संगीत कला का व्यापक रूप से प्रचार व प्रसार हुआ, जिससे कलाकारों की संकुचित मनोवृति में भी परिवर्तन आया।

संकुचित मनोवृति में परिवर्तन के फलस्वरूप संगीत की, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कारण और दिनोंदिन बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण देश के विभिन्न शहरों में संगीत-समारोहों, सभाओं, विचार गोष्ठियों और संगीत की प्रतियोगिताओं के आयोजन में वृद्धि हुई। नए-नए कलाकारों का अभ्युदय हुआ। श्रोताओं की संख्या में वृद्धि हुई। समाज में सांगीतिक कार्यक्रमों में जाना अब सुसंस्कृत होने का प्रमाण समझा जाने लगा। लोग अपने घरों की महिलाओं को संगीत की शिक्षा दिलवाना सम्मान की बात समझने लगे।

संगीत और काव्य को श्रव्य विधा मानी जाती है। श्रव्य कला-विधा होने के कारण संगीत से आकाशवाणी का बहुत ही निकट संबंध हो जाता है। संगीत के लिए रेडियो तथा दूरदर्शन [illegible] सिद्ध हुए। उच्चकोटि के संगीतज्ञ की [illegible] टेपरिकार्डर इत्यादि की उपयोगिता स्वीकार [illegible] आकाशवाणी पर प्रसारण से पूर्व संगीत का [illegible] विस्तृत दायरा नहीं था। आकाशवाणी पर [illegible] से जहां सभी प्रकार का संगीत सर्वसाधारण [illegible] सुलभ हो गया, वहां संगीत साधकों के लिए [illegible] कम महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुए।

पहले संगीत के लिए समाजशासक वर्ग [illegible] दरबार आदि हुआ करते थे किन्तु कालांतर [illegible] संगीत कलाकार ने मजबूत होकर अपनी कला [illegible] जीविका का साधन बना लिया। सरकार के द्वारा [illegible] संगीत खास कर आध्यात्मिक चिंतन एवं [illegible] पद्धति पर आधृत शैली को संरक्षण नहीं प्राप्त [illegible] इस चिंतन शैली के लिए संगीत विद् तथा [illegible] को ही आगे आना होगा। पूंजीवादी युग में [illegible] काल की संरक्षण व्यवस्था खत्म हो गई। [illegible] रिकार्डस्, एल.पी. रेडियो, सीडी, दूरदर्शन, [illegible] और संगीत मंच प्रदर्शन आदि के कारण समग्र [illegible] संगीत-श्रोता-समुदाय का विकास हुआ है। यही [illegible] समुदाय आधुनिक युग में संगीत का संरक्षक [illegible]

पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत लोकप्रिय [illegible] अर्थात् फिल्मी सुगम संगीत बाजार की [illegible] इसलिए आधुनिक समय में संगीत एक ओर [illegible] वस्तु है तो दूसरी ओर मानवीय मूल्यों का [illegible] शास्त्रीय संगीत भी है। इस प्रक्रिया में संगी[illegible] दुनिया में व्यवसाय और संस्कृति का द्वन्द्व [illegible] होता है।

यद्यपि सामंती संरक्षण की तुलना में आ[illegible] काल में राज्य और संगीत श्रोता समुदाय के [illegible] में संगीत कलाकार अधिक स्वतंत्र है। लेकिन पूं[illegible] व्यवस्था और आर्थिक प्रक्रिया से उसकी स्व[illegible] प्रभावित होती है। एक ओर राजसत्ता का [illegible] और दूसरी ओर बाजार के प्रभाव के कारण [illegible] स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। आधुनिक [illegible] गायक मध्यकालीन पूर्वजों से अधिक सामाजि[illegible]

आधुनिक भारतीय व्यवस्था में पूंजीवादी [illegible] प्रक्रिया का प्रभाव विभिन्न प्रकार के मानसिक [illegible] पर भी पड़ता है। कला और संगीत का उत्पाद[illegible]

उससे प्रभावित होता है। यहां उत्पादक के रूप में संगीत कलाकार भी आ जाते हैं। कलाकार भी एक प्रकार का श्रमिक बन जाता है।

मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में उत्पादन की समग्र प्रक्रिया के भीतर कला के उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा -"एक ही प्रकार का श्रम लक्ष्य की भिन्नता के अनुसार कभी उत्पादक श्रम होता है और कभी अनुत्पादक श्रम।" इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है। - "जब एक गायक स्वयं गाकर कुछ कमाता है तो उसका श्रम अनुत्पादक है लेकिन वही गायक जब किसी व्यवसायिक संस्था या व्यक्ति के निर्देश पर बाजार के लिए गाता है तब उत्पादक श्रमिक बन जाता है। गायक का श्रमिक बनना और गायन को बाजार की वस्तु बनाना सिर्फ जीविका के लिए है। आज के कलाकार और उसकी संगीत कला उसकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर होती है। क्योंकि संगीत कलाकार की आर्थिक-सामाजिक स्थिति से उसकी मानसिकता के स्वरूप का गहरा संबंध होता है।

कलाकार की मानसिकता से उसकी कला प्रभावित होती है। सभी कला विधाओं में सिर्फ संगीत कला विधा ही है, जो पूर्णतः आध्यात्मिक अर्थात् दक्षिण पंथी कला-विधा है। एक भी कलाकार ऐसे नहीं है जो वामपंथ के विचारों को जीते हों और वे अच्छे संगीतकला विद् हों।

स्वाधीनता के उपरांत भारत में संगीत कलाकारों की स्थिति में परिवर्तन आया है। संगीत कलाकारों की आर्थिक स्थिति आज भी अच्छी नहीं है क्योंकि वे पूर्णरूप से अपने आप को बाजार पर नहीं परोस पा रहे हैं। एक सफल कलाकार के लिए वर्तमान राजाश्रय का एक बुरा पक्ष भी है जिसे नागार्जुन ने बताया है कि युग निर्माता संगीतकार जब आज के आराम-तलब और चापलूस अफसरों के दरम्यान जा पहुंचता है तो उस पर "भई गति सॉफ छुछंदर केरि" वाली कहावत लागू हो जाती है। धीरे-धीरे उसके अंदर का युग-कला-शिल्पी मर जाता है। फिर विमूढ़ और पतित हंस की चोंच का पहला शिकार सरस्वती की खुद वीणा ही होती है।

अतः आधुनिक समाज में संगीत-श्रोता-समुदाय ही संगीत के कलाकारों का संरक्षक है। यही भारतीय समाज संगीत को वर्तमान में पराकाष्ठा पर ले गई है। भारतीय समाज में रह रहे आम जनों को संगीत की थोड़ी-बहुत शिक्षा अवश्य लेनी चाहिए, जिस कारण समाज भी अच्छे संगीत सुनना पसंद करेगी और संगीत के सच्चे साधकों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार होगा। संगीत कलाकारों को जीविका हेतु छोटी-मोटी नौकरी भी कर लेनी चाहिए ताकि सनातन संस्कृति की धरोहर ईश्वर प्रदत्त कला विद्या संगीत अपनी गरीमा को बचाकर इसमें श्रीवृद्धि कर सके।

संदर्भ :

1. चौबे और श्रीवास्तव, मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, लखनऊ, वर्ष 1979
2. पाण्डेय विमलचन्द्र, भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास
3. सिंह मथुरा प्रसाद, मगही जनपदीय कार्यो पर एक दृष्टि, जनपद वैशाख, वर्ष 2010
4. अग्रवाल डा0 वासुदेव शरण, सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक, सं0 वर्ष 2010
5. तिवारी भोलानाथ, लोकायन और लोक साहित्य : सम्मेलन पत्रिका वर्ष 2010
6. सिन्हा डॉ0 सत्यव्रत, हिन्दी अनुशीलन (निबंध लोक साहित्य की विशेषताएं)
7. दिनकर श्री रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल, पटना, वर्ष 1980

रागमाला चित्र परम्पराओं के प्रतिबिम्ब

संगीता सिंह

भारतीय संगीत परम्परा मुख्य रूप से रागों पर आधारित है। राग का शाब्दिक अर्थ हैं रंज अर्थात् आनन्द। यह स्वरों व धुनों का ऐसा संयोजन है जो श्रोता के हृदय में आनन्द की अनुभूति कराता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में राग मात्र स्वरमय रचना नहीं हैं। वरन प्रत्येक राग का अपना विशेष भाव है। प्राचीन ग्रन्थों में स्वरों के रंगो का भी उल्लेख मिलता है। साथ ही ऋतु, समय इत्यादि भी निश्चित है। गाने के विभिन्न प्रहरों ऋतुओं और प्रत्येक राग से सबद्ध भावों को ध्यान में रखते हुए एक निश्चित चित्रण विधि अवतरित हुई जिसका चित्रकारों द्वारा अपने चित्र में वर्णन किया गया है।

हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत में अनगिनत राग हैं, जिसको वर्गीकरण के रूप में बॉटा गया ताकि रागों का अध्ययन सरल व सुगम हो सके। जिसके फलस्वरूप रागों को समय, गीतियों, ऋतुओं तथा रसानुसार रागों में विभाजित करके अध्ययन किया जाने लगा।

मध्यकाल की यह विशेषता रही थी कि कुछ रागों को स्त्री और कुछ को पुरूष मानकर रागों की वंश परम्परा मानी गई थी। इसी परम्परा के अनुसार राग-रागिनी पद्धति का उद्भव हुआ जब कि अगर देखा जाये तो राग-रागिनी वास्तव में वैज्ञानिक न होकर एक काल्पनिक विचाराधारा ही है। जब इस का प्रचार आरम्भ था, उस काल के मनीषियों तथा कलाविदों, संगीत मर्मज्ञों ने अपनी बौद्धिकता के बलबूते पर इस पद्धति का निर्माण किया था। इस पद्धति में चार मत प्रचलित हुए, जिसका आधार नारदकृत संगीत मकरंद माना जा सकता है। जिसमें शिव, कृष्ण, हनुमत, भरत मत प्रचलित हुए, प्रत्येक की 6-6 तथा 5-5 रागनियाँ, 8-8 पुत्र चारों मत द्वारा मान्य थे। इस प्रकार 6 राग 36 रागनियाँ मानी जाती थी। रागों का पारिवारिक वर्गीकरण मध्ययुग की उपज है परन्तु उसके पीछे कोई सैद्धांतिक आधार दिखाई नहीं देता। परिवार की रचना में अनुवांशिक गुणों का साम्य अपेक्षित होता है। तात्कालीन शास्त्रकारों की दृष्टि से ऐसा गुण-साम्य इन रागों में अवश्य रहा होगा परन्तु उन रागों का स्वरूप वर्तमान स्वरूप में सर्वथा भिन्न होने के कारण इस वर्गीकरण की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को समझना आज कठिन हो गया है।

भारतीय संस्कृति में देवताओं का बड़ा महत्व है, उनके स्वरूपों की कल्पना करते समय प्रत्येक देवता के हाथ में कुछ आयुध या वस्तुएँ (वीणा, पुस्तक, माला, पद्य, शंख) आदि दे दी गई अथवा उनकी कुछ मुद्राएँ और वाहन भी निश्चित कर दिए गए थे। संगीत के रागों की कल्पना इस प्रकार से नहीं की गई। चूँकि रागों के रूप की कल्पना का सम्बन्ध मनुष्य की एक आन्तरिक वृत्ति रूप से है। अतः रागों के रूप की कल्पना करते समय उनके रागों की कुछ क्रिया करते हुए दिखाया जाता है, जिस प्रकार देवताओं के ध्यान हैं। उसी प्रकार रागों के ध्यान समय किसी रस विशेष को उत्पन्न करने के लिए एक विशेष वातावरण की कल्पना की गई। इस देवतामय स्वरूप के अतिरिक्त राग का एक नादमय रूप भी है। इस नादात्मक रूप की अराधना से रागों के देवतामय रूप का प्रत्यक्षीकरण भी संभव है। इसी आधार पर राग-रागिनी के स्वरूप

असिसटेन्ट प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू वि0वि0, वाराणसी

की (चित्रों) की कल्पना की गई। इस आधार पर इन राग ध्यानों को संस्कृत में और हिन्दी में भी रचा गया, राग ध्यान उस समय के रागों को सामने रखकर रचे गए थे। क्योंकि रागों की रंजकता का सम्बन्ध रागों की भावमयता से है। रागों का जैसा स्वरमय रूप है, वैसा भावमय रूप भी है। राग वही होता है जो श्रोता में भाव-लहरी पैदा कर देता है। जो राग श्रोताओं की भावनाओं को आंदोलित नहीं करता, वह रंजकता से शून्य माना जायेगा। श्रोताओं की भावनाओं का उत्कर्ष ही संगीत की रसावस्था है।

राग की भावमयता को ध्यान में रखकर ही रागों के रूपों या ध्यानों की कल्पना की गई है। आगम-ग्रन्थों में नाद को उपासना का माध्यम माना गया है। उपासना में तन्मयता लाने के लिये उपास्य देवता को हमेशा साकार तथा सगुण रूप दिया जा रहा है। रागों के सम्बन्ध में यही प्रक्रिया काम में लाई गई है। रागों का मानवीय रूप कल्पित करने से उनमें तन्मय होने में सुविधा बनी रही।

ई0 14 में 'संगीतोपनिषत्सारेद्धार' नामक ग्रन्थ में 7 स्वर, 6 राग और उनकी 36 भाषाओं का ध्यान प्रथम बार अंकित हुआ है। इस ग्रंथ के राग भैरव का वर्णन देखिये-

भैरवः श्वेतवर्णः स्यादेकवक्त्रेऽष्टहस्तभाक्।
वृषयानः कशत्तिवासाः कालभैरव रूपधश्त्।।
सर्पत्रिशूलखट्वा जपमालिभिरन्वितैः।
वीणापाशफलाब्जैश्च पाणिभिर्भूषितौ ह्ययम्।।

राग ध्यान की यही परम्परा आगामी शताब्दियों में चलती रही। पं0 सोमनाथ तथा पं0 अहोबल ने उत्तर की परम्परा के अनुसार तत्कालीन रागों के सुन्दर ध्यान रचे है। इस प्रकार राग ध्यान के आधार पर धीरे-धीरे चित्र बनने लगे। इन्हीं राग-ध्यानों के आधार पर हिन्दी में भी राग-ध्यानों की रचना की गई। लक्ष्मण कवि, हरिवल्लभ तथा महाकवि देव द्वारा रचित ध्यान इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। यह ध्यान तत्कालीन राग रूपों को ध्यान में रखकर रचे गये हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है। वर्तमान रागरूपों में उनका सामन्जस्य नहीं बैठता।

इन्हीं रागध्यानों के आधार पर राग-चित्र बनाये गये हैं। राग-रागिनी के चित्रों की परम्परा यहीं से आरम्भ हुई। इस परम्परा का सूत्रपात प्रायः ई015 और ई0 16 के मध्य में हुआ। इसका विशेष विस्तार राजस्थानी और मालवा की शैलियों में मिलता है। इसके अलावा मुगल, राजपूत पहाड़ी व दक्षिणी शैली में भी मिलता है। अतः इन चित्रों में भी रात-दिन, प्रातः सायं व ऋतु परिवर्तन का विशेष ध्यान रखा गया इस प्रकार मध्यकालीन चित्रकारों पर दरबारी संगीत और नृत्य का गहरा प्रभाव पड़ा और वहीं से प्रेरणा पाकर चित्रकार ने राग-रागनियों का चित्रण किया। इसके अलावा 19वीं ई0 तक यह चित्रण परम्परा बराबर बनी रहीं। इसके साथ अगर हम राजस्थानी शैली के अध्ययन में देखे कि किस प्रकार से रागमाला चित्रण किया गया है तो वो इस प्रकार है जयपुर शैली में कलाकारों ने रागों के आधार पर चित्र बनाये हैं। कलाकारों ने "रसिक प्रिया" तथा "राग चन्द्रिका" पर काफी चित्रण किया है। इस शैली में कलाकारों ने अधिकतर भारतीय विषयों के ऊपर ध्यान रखा है और "राग" का बहुत सुन्दर अंकन किया है। राजस्थानी शैली के कलाकारों ने छः रागों तथा हर राग की पांच रागिनियों यानि कुल 36 राग-रागिनियों का सुन्दर अंकन किया है। ठीक इसी प्रकार मुगल काल में भी राग-रागिनियों का चित्रांकन हुआ है।

रागमाला के चित्रों की परम्परा राजस्थान में प्रचलित थी। विशेषकर जयपुर तथा बुन्देलखण्ड में इसका ज्यादा प्रचार था। रागमाला के चित्रों की परम्परा प्राचीन बुद्ध कालीन चित्रों से सम्बन्धित है। राग ग्रन्थों के अनुसार 6 राग तथा उनकी 30 रागिनियॉ होती थी। चित्रों में राग को नायक तथा रागिनी को नायिका का रूप प्रदान किया है। सत्रहवीं शताब्दी में रागमाला के चित्रों की बाढ़ सी आ गई। रागों का चित्रण करते समय तत्कालीन ऋतुओं के प्रभाव को भी वातावरण पर प्रगट किया गया। इस प्रकार भैरव राग, मालकौस राग, हिंडोल राग, दीपक राग, श्री राग तथा मेघ राग का चित्रण हुआ। मुगल

शैली में भी राग तथा रागिनियों का सुन्दर चित्रण तो हुआ है किन्तु उतना नहीं। जयपुर शैली में रचित राग-रागिनियों का वर्गीकरण, उनके गाये जाने का समय, उनकी वेशभूषा, चित्रों की पृष्ठभूमि, चित्र संयोजन तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन भी किया।

राग-ध्यानों के आधार पर राग-रागिनियों के अनेक चित्र अनेक कलाकारों के द्वारा बनाये गये। इस चित्रावली को 'रागमाला' कहते हैं। इनमें सामान्यतः 6 राग और 36 रागिनियों का वर्णन तथा चित्र पाये जाते हैं। यह चित्र कुछ अंश में परम्परागत राग-ध्यानों पर आधारित हैं और कुछ अंश में कलाकार की कल्पना पर। इनमें रागनियों की संख्या 36, 42, 49, 52 तथा 59 तक भी देखी जाती है। चित्रों के ऊपर राग के सम्बन्ध में संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में छंद पाये जाते है। राग माला चित्र काव्य, संगीत तथा चित्रकला तीनों की रूपात्मक अभिव्यक्ति है। लघु चित्रों का इतिहास जितना प्राचीन है, उतना ही रागमाला चित्रों का भी है। मूलतः रागमाला चित्र राजपूत लघुचित्रों की सभी शैलियों का अभिन्न अंग है। 16वीं शताब्दी तक निरन्तर इन चित्रों की रचना होती रहीं विभिन्न शासनकाल, विभिन्न कला शैली तथा स्थानीय प्रभावों के अन्तर्गत विभिन्न राग-रागनियों का वैविहय पूर्ण अंकन हुआ है। रागमाला चित्र रागों का दृष्टव्य रूप हैं। अनेक प्राचीन विद्वानों, कवियों तथा संगीतज्ञों द्वारा रागों का जो मूल स्वरूप निर्धारित किया गया है एवं निर्धारित रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है, उन्हीं को आधार बनाकर राग रागनियों का लाक्षणिक अंकन किया है। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर ऐसी रागमालाओं के केन्द्र रहे हैं। आज भी कुछ निजी संग्रहालयों के अलावा भारत कला भवन, काशी तथा बोस्टन एवं ब्रिटेन के संग्रहालयों में यह रागमाला-चित्र सुरक्षित है।

रागों के स्वरूपों के बारे में भारतीय ने ही सोचा हो, ऐसी बात नहीं है। बल्कि कुछ काल पूर्व ध्वनियों को चित्रित करने के प्रयास किए गए है। इनमें अंग्रेज चित्रकार रोबर्ट स्पाईज ने शोफ की 24वी प्रल्यूड का चित्रण किया था, 1916 ई० कलकत्ते की वॉसमस पत्रिकाओं 18वें अंक में बताया। ये चित्र इल्सट्रेटैड लंदन न्यूज में छपे इसी प्रकार के चित्रों की प्रदर्शनी मिस विलियम्स 1926 ई० में एओलीन हॉल में भी की गई थी।

इस प्रकार हमारे भारतीय रागमाला में भी में मानव स्वरूप का चित्रण करने में सहानुभूति समझ ने काम लिया गया है। पुरूषों का चित्र हिन्दुओं की प्राचीन परंपरा के अनुसार ही हुआ है वे लंबे चौड़े स्कंधों वाले, बड़े जबड़ों की और चौड़ी छाती वाले दिखाए गए है। उनकी सुविकसित मांसपेशियॉ सीधी और चिकनी है आदि प्रकार से चित्रण किया गया है। रागमाला में प्रकृति का चित्रण बड़ी सहानुभूति के साथ किया गया है और रागों के चित्रण जैसे-भैरवी में भगवान शिव का वर्णन किया गया, रागिनी कुकुम को मयूरी से घिरा हुआ, तोड़ी को हिरणों के साथ, आसावरी की नायिका को सर्प के साथ दिखाया जाता हैं राग मालकौंस में वीर योद्धा का वर्णन, राग हिंडोल में झूले के साथ सखियों का वर्णन, मेघ में वर्षा का वर्णन, राग श्री में सूखे वृक्षों का हरा होना आदि का वर्णन मिलता है।

अतः इस प्रकार यह बताना कठिन है कि रागों के ये ध्यान कब से प्रारम्भ हुए, क्योंकि प्राप्त संस्कृत ग्रन्थ बहुत बाद में रचे गए है। प्राप्त ग्रन्थों से ज्ञात हुआ कि ये ध्यान तब ही बने थे। जबकि भरत, नारद और हुनमतन्मत तीनों खूब प्रचार में थे। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि रागों के दो रूप नादमय व देवतामय बहुत दिनों से चले आ रहे है। यद्यपि उनका वर्णन राग विबोध से पूर्व के ग्रन्थों में नहीं मिलता अनेक पुरानी कथाओं तथा पुस्तकों में रागों के चित्र भले ही ना मिले, पर वर्णन मिलता है। रागों का जैसा स्वरमय रूप है, वैसा ही भावमयरूप भी है। इसी भावमयता को लेकर रागरागिनी के विभिन्न ध्यान तथा रागमाला नामक चित्रों का निर्माण किया गया। इस प्रकार रागमाला पेन्टिंगस के माध्यम से रागों का सजीव चित्रण हमारे

ामने आता है। जिन रागों को हम सुनते है बजाते उनको रागध्यान या राग कल्पना के माध्यम से में उनका रागमाला चित्रण में प्रत्यक्ष अवगत होने का मौका मिलता है, जो कि हमारे भविष्य भावी ात्र/छात्राओं के संगीत के पक्ष को जानने के लिए त्तम है।

न्दर्भ

- वीर रामअवतार, भारतीय संगीत का इतिहास
- परांजपे डॉ0 शरतचन्द्र, संगीत सुधा
- वर्द्धन डॉ0 सौभाग्य, संगीत चिन्तन तृतीय भाग
- निबंध संगीत।
- पाठक डॉ0 सुंनदा, हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास
- रावत निशा, यू0जी0सी0 नेट संगीत
- शर्मा मृत्युन्जय एवं त्रिपाठी रामनारायण, संगीत मैनुअल
- राष्ट्रीय संगोष्ठी से शोध पत्रिका - डी0जी0पी0जी0 कॉलेज, कानपुर से प्रकाशित

गीत-संगीत के महान कलाकार विद्यापति

डॉ0 चन्द्रनाथ मि

यदि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है तो निश्चय ही वही साहित्यकार सर्वाधिक लोकप्रिय होगा जो जन-सुलभ भाषा में संपूर्ण लोकजीवन को अपनी साहित्य सीमा में आयात कर सकेगा। जो साहित्य जन-जीवन को प्रभावित नहीं कर सकेगा अथवा जो जन-साधारण द्वारा पठनीय नहीं होगा वह अत्युत्कृष्ट होने पर भी अपनी जनप्रियता खो देगा। सच तो यह है कि महापण्डितों की सीमित मण्डली में रहकर कोई भी साहित्यकार जनप्रियता का गौरव नहीं पा सकता। तभी तो जिसने कलम नहीं पकड़ी, भाषा नहीं सीखी, वे लोक-जीवन के निर्देशक हुए, अपनी वाणियों से जन समाज को प्रभावित करने के कारण ही किसी महापण्डित से कबीर का व्यक्तित्व उच्चतर है।

लोकप्रियता की दृष्टि से विद्यापति की तुलना सिर्फ तुलसीदासजी से की जा सकती है। दोनों महाकवियों में विलक्षण साम्य भी है। महाकवि विद्यापति ने 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' को ध्यान में रखकर भाषा का प्रयोग किया और तुलसीदासजी ने भी 'सब कर हित होउ' का आदर्श समक्ष रखा। दोनों कवियों ने युग की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। दोनों विद्वान कवियों ने कला और जन-रूचि का ध्यान रखा है। इन दोनों को न तो भक्त न दार्शनिक और न सिर्फ धार्मिक कहा जा सकता है, अपितु ये सबका समन्वय करते हैं। किन्तु कई दृष्टियों से विद्यापति की लोकप्रियता तो तुलसीदासजी से भी आगे बढ़ गई है।

होमर को सात नगरों के कवि के रूप में जाना गया। महाकवि विद्यापति भी होमर की तरह ही अनेक प्रान्तों और अनेक भाषाओं के कवि के रू में प्रतिष्ठित हुए। विद्यापति की महती ख्याति क देखकर बंगालियों ने उनके घर की कल्पना बंगाल में कर ली, यह कवि की लोकप्रियता नहीं और क्या है? अनेक बंगाली कवियों ने विद्यापति आधार पर कविताएँ भी की। वस्तुतः वैष्णव ज्ञानदा से लेकर हिन्दू बंकिमचन्द्र और ब्राह्म रविन्द्र ना ठाकुर तक उनकी काव्य से आलोकित है।

लोकप्रिय कवि विद्यापति की मधुरवाणी बंगाल बिहार, उड़ीसा और असम की भूमि में सुधा घोलती हुई ब्रजभूमि को भी महिमा मण्डित कर सकी। चैतन्य महाप्रभू के शिष्य जब वृन्दावन पहुँचे तो ब्र में विद्यापति के गीतों का अत्यधिक प्रचार हुआ। इस प्रकार महाकवि विद्यापति की लोकप्रियता क क्षेत्र अत्यंत व्यापक है।

लोकप्रियता की कुछ प्रमुख विशेषताएँ होती है और वे सभी विद्यापति में प्रचुर परिमाण में पायी जाती है। जैसे लोक जीवन वृत्ति, उत्कृष्ट विचार, मधुर भावना, मनोहर कला पक्ष तथा नवीन सौन्द आदि-आदि। अतएव विद्यापति की लोकप्रियता क सम्यक निदर्शन विभिन्न पक्षों के आधार पर किया जा सकता है।

सामंत कवि होकर लोकोन्मुख होनेवाले कवि विद्यापति ही हैं। इन्होंने राजा के वर्णन से अधिक प्रजा का वर्णन किया है। कहा जाता है कि दरबारी वातावरण में जाकर साहित्य कुत्सित हो जाता है, परन्तु महाकवि विद्यापति का व्यक्तित्व कमल की तरह है जो राज दरबार से पोषण पाकर भी अपना

संगीत विभागाध्यक्ष, म.ल.सिंह मेमोरियल महाविद्यालय, दरभंगा।

स्वतन्त्र विकास कर सका है। कमल की भांति सर्व जन सुलभ भव्य रूप उसका रहा है।

विद्यापति ने सभी अवस्थाओं के लोगों के अनुकूल पद रचे हैं। यदि युवक समाज ससन परस खसु अम्बर रे देखलि धनि देह गाकर मधुर कल्पना में झूम उठता है तो कलकण्ठी कामिनियाँ नव-बधु को कोहवर में ले जाती हुई - 'सुन्दरि चलिलिहुँ पहु घर ना गाती हुई आनन्द स्रोत में डूबती उपलाती चलती हैं, वृद्ध- 'माधव, हम परिनाम निरासा' गाकर अश्रु बहाते हैं। और शिवपुजारी डमरू हाथ में लिये - 'कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ' गाते हुए तन्मय हो जाते हैं। जन-जीवन की सभी प्रकार की भावनाओं से सभी प्रकार के लोगों को एक साथ विभोर करने की क्षमता विद्यापति में ही थी। लोकजीवन का इससे अधिक सफल कवि और क्या हो सकता है।

महाकवि विद्यापति ने लोकभाषा का जयगान किया है। यद्यपि विद्यापति एक साथ ही अनेक भाषाओं - संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मैथिली के प्रकाण्ड विद्वान थे और उन्होंने इन सभी भाषाओं में रचनाएँ भी प्रस्तुत की, परन्तु वे औसत पाठक को रसात्मक बोध कराने के लिए मुख्यतया अपभ्रंश और मैथिली को ही अपनाया हैं। महाकवि विद्यापति संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होकर भी प्रचलित देशी भाषा का प्रयोग किया है। क्योंकि सर्वसाधारण उनकी रचनाओं से आनन्द प्राप्त कर सकें।

जन-जीवन में लोकगीत का बड़ा आदर होता है। कारण यह है कि एक तो पद्य ही गद्य की अपेक्षा स्मरण रखने में अधिक आसान होता है, फिर उसमें गेयता आ जाने से और भी सुविधा मिल जाती है। महाकवि के गीतों को यद्यपि पूर्णरूप से लोकगीतों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, उसमें नागर वृत्तियाँ भी पायी जाती हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि अनुपाततः उनके गीत कला गीत की अपेक्षा लोकगीत ही अधिक हैं।

लोकगीत के भाव अपने प्राकृत रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उसके छन्द, धुन, स्वर तथा शब्द चयन आदि में अकृत्रिमता विद्यमान रहती है। इन सभी दृष्टियों से महाकवि के गीत उत्कृष्ट प्रतीत होते है। 'हे पतिया लय जायत रे मोरा प्रियतम पास' में लोकधुन के साथ-साथ भावना की निश्छलता तथा अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता भी द्रष्टव्य है। फिर 'आओत तोर मनभावन रे, एहि कातिक मास' में आशावादी प्रवृत्ति की झलक स्पष्ट है, जो लोकगीत का वैशिष्ट्य है। महाकवि के गीत पुरूष और नारी समान रूप से गाते हैं। यह श्रेय किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं है।

महाकवि विद्यापति सफल स्रष्टा तो थे ही उच्च कोटि के संकलन कर्त्ता भी थे। पुराने वृक्ष नये पल्लवों से नूतन और भव्य प्रतीत होते हैं। पदावली में उन्होंने गीत गोविन्द आदि से प्रभाव ग्रहण किया है, जिससे उनके पद और अधिक लोकप्रिय बन सके हैं।

महाकवि की पदावली कोमलता के लिए विश्व विश्रुत है। उनका प्रत्येक पद मधुरस से लिपटा हुआ पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है। महाकवि विद्यापति की पदावली हृदय के रस, रागों की सरसता, उक्तियों की विचित्रता, मिलन का आनन्द, विरह का उत्ताप, पदों का लालित्य, अर्थ का माधुर्य एवं भावोल्लास की प्रदर्शनी है जिसे शताब्दियों से उत्कंठित जन-समाज देखता आया है और अनन्तकाल तक देखता रहेगा और उसकी वह अन्तः प्रदर्शनी भी 'तिल-तिल नूतन होय' बनी रहेगी।

महाकवि विद्यापति का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ उस समय मिथिला में शास्त्रीय गान प्रबन्ध ध्रुपद, प्रबन्ध-धमार विशेष रूप से प्रचलित था। ईरानी संगीत का भारतीय संगीत पर प्रभाव बढ़ रहा था। ध्रुपद, धमार के स्थान पर ख्याल, तराना, कव्वाली आदि गायन समाज में अपना स्थान ले रहा था। लोक संगीत के गायन में प्रभाव नहीं पड़ा।

महाकवि सम्पूर्ण जीवन गीत की रचना करते रहे। उनके गीत घर-आंगन से लेकर राजाप्रसाद तक गुंजित हुए। गीत जो जन-समाज के जीवन से सम्बन्धित रहा, संस्कार से संबंधित रहा, वो एक धारा से निरन्तर चलता रहा। उक्त दोनों धारा अभी तक स्वरूप में अवश्य है। आज राजा प्रासाद नहीं हैं, उसके स्थान पर जन समाज के घर-आंगन हैं। समाज अपने सूझ-बूझ एवं इच्छानुसार संगीत के दोनों धारा को अपना रहा है। आज के युग में राग

के गायन से लोकगीत का गायन सर्वसाधारण के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आचार्य द्विवेद्वी का कहना है कि -''जयदेव के बाद उसी प्रकार की पदावली बंगाल के चंडीदास और मिथिला के विद्यापति नामक कवियों ने लिखी।' महाकवि के राधाकृष्ण विषय के पद बंगाल एवं असम में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त किया।

महाकवि विद्यापति के जिस कोमलकान्त पदावली से बंगाल के बैष्णव भक्त समाज और रससिद्ध वर्ग प्रभावित हुए और उस पद के अनुकरण पर ब्रजबुली साहित्य को प्रणयन किया उसका दूरगामी प्रभाव पड़ा। विद्यापति और चण्डीदास दोनों सम सामयिक थे, और दोनों सशक्त कवि थे फिर भी मैथिल कवि विद्यापति का जितना प्रभाव बंगाली जनमानस पर पड़ा उतना बंगाली कवि चण्डीदास के नहीं। महाकवि अपने भाषा साहित्य में संगीत तत्व का जो समन्वय किया है, उससे मैथिल संगीत लहरी नेपाल, असम, बंगाल, उड़ीसा में पूर्ण रूप से फैल गया। ये संगीत सर्वसाधारण एवं भक्त जन को समान रूप से आकृष्ट किया। महाकवि विद्यापति के प्रादुर्भाव से मिथिला के जन-जीवन में संगीत पूर्ण रूप से स्थान पाया। इस संबंध में एक उक्ति द्रष्टव्य हैं :-

''मिथिला की स्त्रियों में संगीत एक प्राण हो रहा है। उपनयन, शादी, मुंडन, पूजा आदि किसी भी शुभ अवसर पर स्त्रियाँ मिलकर मधुर स्वर से जब विद्यापति के गीत गाती हैं तो स्वाभाविक संगीत का रूप खड़ा हो जाता है। पुरूषों में भी महेशवाणी, नचारी आदि प्रचलित है।[1]

इस संबंध में एक उक्ति और कहा गया है - '' विद्यापति और लोचन की भूमि में संगीत का न रहना असम्भव है।[2]

जयदेव के गीत गोविन्द के जैसे ये सभी पद राग ताल लयाश्रित हैं। वर्ण रत्नाकर में ऐसा संकेत है जिससे उस युग के संगीत समृद्धि की कल्पना की जा सकती है। उसमें नृत्य गीत पर विस्तार से [illegible] है। इससे उसके अध्ययन अभ्यास और अनुशी[illegible] पर यथेष्ठ प्रकाश पड़ता है। चर्यापद के राग नि[illegible] इसका ही पूर्वाभास है। वर्ण रत्नाकर में जो [illegible] रागिनी के नामावली है। उससे रागाश्रित सं[illegible] परंपरा की पुष्टि होती है। बारहवीं शताब्दी [illegible] संगीत का विकास इस रूप का हो गया था [illegible] जयदेव अपने गीतगोविंद में उसके प्रयोग के [illegible] का संवरण नहीं कर सकें। वस्तुतः उस समय [illegible] संगीत समृद्धि से काव्य समृद्धि का बोध होता [illegible] चर्यापद सहित मैथिली का जो साहित्य मिलता है [illegible] सभी संगीताश्रित है। विद्यापति के विशेष पद [illegible] न कोई राग या रागिनी में निबद्ध है। इस प्रसंग [illegible] लोचन कृत रागतरंगिणी में एक उल्लेखनीय अंश [illegible] उस आधार पर महाराज शिवसिंह अपने प्र[illegible] गायक जयंत को विद्यापति के पास में रह उ[illegible] गीत का राग निश्चित करने का भार दिया [illegible] विद्यापति के गीतों में राग-रागिनी का निर्धा[illegible] समय-समय पर विभिन्न संगीतज्ञों द्वारा किया ग[illegible] इसी कारण एक ही गीत पृथक-पृथक संग्रह [illegible] भिन्न-भिन्न राग-रागिनी में उल्लिखित है। विद्याप[illegible] अपने भी संगीत शास्त्र के पारंगत प्रतीत होते [illegible] अपने गीतों में शब्द के साथ वाद्य स्वर (यंत्र) [illegible] परिचय भी दिया है। इससे इसका समर्थन होता [illegible] वैसे तो वे महान संगीत प्रेमी थे 'विद्यापति क[illegible] गाओल' उनके गीत की सहज अभिव्यक्ति है [illegible] तभी उनके कंठ से निसृत गीत संगीत तत्व [illegible] अनुरूप सिद्ध हुआ।

संदर्भ ग्रंथ

1. ठाकुर श्री सिंहासन सिंह, मिथिलाक ललित क[illegible] पृ0 186
2. दास श्री पुलकित लाल , मिथिलाक संगीतज्ञ, [illegible] 189

मैथिली, भोजपुरी, मगही एवं संथाली लोकगीत :- एक तुलनात्मक व्याख्या

डा0 ममता रानी ठाकुर

किसी भाषा की सशक्तता एवं समर्थता तभी निश्चित होती है जब उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म मानव-विचारों एवं भावनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता हो। अर्थात माधुर्य, सरसता एवं स्वभाविकता भाषा का सर्वश्रेष्ठ गुण है। लोक-भाषा इन सभी गुणों से पूर्ण होती है। लोकगीतों द्वारा किसी जाति की संस्कृति का संप्रेषण होता है। इसी कारण लोकगीतों को सांस्कृतिक वैभव, रीति-रिवाज, परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों एवं आदिम-मानव को अन्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का संवाहक कहा गया है। लोकगीत, काल एवं समय के प्रभावों से मुक्त प्रत्येक युग में मानव मन को आन्दोलित करते रहे हैं।

भारतीय लोकगीतों में वैभिन्नय भी है और विविध्य भी। यहाँ की बहुरंगी परम्पराओं एवं विविध सांस्कृतिक विचार-स्रोतों के अनुरूप ही यहाँ के लोकगीतों में विविधता दृष्टिगोचर होती है। इतने बड़े देश में, जहाँ कई प्रकार की जाति एवं धर्म के लोग निवास करते हों, इस प्रकार की विविधता का होना प्रायः स्वभाविक ही है। परन्तु भारतीय संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने से यह स्वतः सिद्ध होता है कि यद्यपि भारत के विभिन्न भागों में प्रादेशिक परम्पराओं का प्रभुत्व भी है, जो वस्तुतः स्थानीय परिवेशों से व्युत्पन्न है, परन्तु तत्वतः कोई भी परम्परा ऐसी नहीं जो भारतीय संस्कृति को एकात्मकता अथवा अखण्डता की ओर निर्देशन न करती हो। सांस्कृतिक एकीकरण की यही भावना प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान है और यही भारतीय संस्कृति की विशिष्टता भी है।

सभी बिहारी भाषाओं के विभिन्न लोकगीतों के अध्ययनोपरान्त यह निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि इन में प्राचीन हिन्दू संस्कारों के ज्वलंत रूप अब भी जीवित हैं। इन सभी प्रदेशों यथा मिथिला, मगह, भोजपुर एवं संथालपरगना में यद्यपि शास्त्रीय संस्कारों के साथ-साथ कुछ लौकिक एवं स्थानीय परम्पराओं अथवा प्रयासों का मिश्रण भी हुआ है, किन्तु हिन्दू संस्कारों के मूल अथवा प्राचीन रूप ही प्रायः बहुप्रचलित है। विभिन्न ऋतुओं एवं त्योहारों संबंधी मैथिली, भोजपुरी, मगही एवं संथाली लोकगीतों के अध्ययनोंपरान्त यह परिलक्षित होता है कि इनमें भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक सौन्दर्य में विभिन्नता होते हुए भी ऋतु, त्योहार एवं प्रकृति संबंधी लोकगीतों में पर्याप्त साम्य द्रष्टव्य है। यद्यपि विशेष स्थानीय परिस्थितियों के कारण कहीं-कहीं किंचित असमानता भी परिलक्षित होती है परन्तु इन असमानताओं के बाबजूद भी इन प्रदेशों के विभिन्न लोकगीतों में संस्कृति का वही शाश्वत ज्वलंत एवं अखण्ड स्वरूप दृष्टिगत है जो प्रायः इस देश में महान प्रदेश मिथिला में देखा जा सकता है।

उदाहरण स्वरूप-

विवाह के गीत :-

मैथिली में :- तोहरा जुगति बेटी वर नहिं भेटल,
खोंजि अएलौं, तपसी भिखरि हे।

व्याख्याता, संगीत विभाग, एम0एल0एस0एम0 कॉलेज, दरभंगा।

मगही में :- सोनमा अइसन धीया हारले, जी बाबा,
कारी कोइलवा हथुन दमाद हे।

भोजपुरी में :- पुरूब खोजलों बेटी पछिम रे खोजलौं,
अबरू ओड़इआ जगन्नाथ सऽ।
और तीनों भुवन तुहें बर खोजलौं
कतहीं ने मिले सिरी राम ए।

संताली में :- नाम दोड नेसेलञ निज दोष हेन्दे एन,
वालाङ जूड़िया देलाङ बापाग,
ञमन खिजुर सकाम बाड़ञुरूआ
आलाक् जड़ीलेका जिवीतोलेन बालाड़ बांपाग।

संताली के इस गीत का आशय है कि पति-पत्नी में दैहिक असमानता के कारण पत्नी पति से कहती है। - "हे स्वामी आप गौरवर्ण हैं और मैं श्यामवर्णा। ये बेमेल जोड़ी कितने दिनों तक चल सकता है।"

परन्तु पति का अटूट प्रेम उसे विश्वास दिलाता है कि - "जिस तरह खजूर का पेड़ कभी भी पत्र विहीन नहीं होता है उसी तरह हम दोनों का शरीर असमान रहते हुए भी अलग नहीं हो सकता है।"

बेटी की बिदाई :-

बेटी की बिदाई के अवसर पर उसके माता, पिता, भाई, बहन आदि के रोने या दुःखी होने की चर्चा सभी लोकगीतों में है, परन्तु भाभी का हृदय इतना कठोर है कि वह प्रसन्न हैं क्योंकि उसके बाद वह स्वतंत्र हो जाएगी।

मैथिली के गीत में यही भाव

ककरा कनने गंगा बहि गेल ककरा कनने हिलकोर,
अम्मा के कनने गंगा बहि गेल, बाबा के कनने हिलकोर,
ककरा कनने चादर भीजि गेल ककर हृदय कठोर,
भइया के कनने चादर भीजि गेल भउजी के हृदय कठोर।

मगही में

अम्मा के रोय मोरा सब धर रोये,
बाबा खड़े पछताए हे।
बीरन के रोय मोरा अंचरा जे भीजे,
भउजी के हीया कठोर हे।

संथाली में

नाड़ाक रेहिलिञ,
छातका रे दादाञ,
वकिन मेता दिञ दे मॉय दुडुप,
मिरूप मेतादिञ दे मॉय दुडुप।

अर्थात कन्या जब मायके जाती है तो घर के अन्दर बैठी भाभी एवं बाहर बैठा भाई कोई बैठने हेतु नहीं कहता सिर्फ दरबाजे पर बैठा पालतू सुग्गा ही उसे बैठने को कहता है। इसी तरह देवी-देवताओं के गीतों में भी समान भाव प्रदर्शित होते हैं।

मैथिली में

जगदम्ब हे, अवलम्व तेरो जननी जय देवी कालिका,
मुण्डमाला रूप जय जय, हाथ शोभनि मालिका,
सिंह वाहन रूप जय जय धमकि जेती दल आजित,
हम गमार जननी, पुत्र दीयऽ अवधारिता।

मगही में

सोने के खड़उऑ यदि अपलन बन्दीदेव,
हाथ सोगहन केला आत हे,
आहि आते मारम मँगता, अनजानु भगता,
हमरा पहुरवा देले जाहू हे।

मगही में कुल देवताओं में प्रमुख राम ठाकुर, बन्दी देव, ओखा ओखाओन आदि हैं। इन्हीं गीतों की पंक्तियों में इन देवताओं के नाम जोड़कर दुहराई जाती हैं।

भोजपुरी में

गोड़वा दुःखइले रे डांड़वा पिरइले,
कब से जे बानी हम ठाढ़।
आरे हाली हाली उगए आदि मल,
अरघ दिआउ।।

पुत्रभिलाषिणी स्त्री भगवान सविता से अर्घ ग्रहण करने हेतु शीघ्र उगने की प्रार्थना करती है।

संथाली में

जय माता जगत माता,
धरती सिरजोन माता जगतमाता,
मोनेमा हिरी रे मानेवा जिबी रे,
नामगेम दुरूप आकाम जगतमाता।

इस गीत में जगदम्बा माता के महिमा का बखान है।

ऋतु एवं प्राकृतिक गीतों में भी समानता पाई जाती है।

यथा,

मैथिली में चेतावर

फुलवा लोढ़न कोना जेबै हो रामा, राजा जी के बगिया,
खोइछा भरि लोढ़लहु, मौनी भरि लोढ़लहु,
आबि गेल राजा के सिपहिया हो रामा।

मगही चैतावर

कुसमी लोढ़न हम जायब हो रामा,
राजा केर बगिया,
मोर चुनरिया सैयाँ तोर पगड़िया,
एकहि रंग रंगायब हो रामा।

भोजपुरी चैतावर

रामा ननदी भउजिया दुनो पनिहारिण हो रामा।
मिलिजुलि सागर पानि भरे चलली हो रामा।।
रामा भरि घूठि पनिया घरिलवो ना डूबे हो रामा।
कौन रसिकवा घटिला जुठि अवले हो रामा।।

मैथिली, भोजपुरी एवं मगही के चैतावर गीतों के प्रत्येक पंक्ति के अंत में प्रायः 'रामा' या 'हो रामा' पाया जाता है।

संथाली में

बिर बुस्कों रोसाड़ एना,
दारे नाड़ीको हरियाड़ एना,
सेतोड़ सँगेत् धारती रोकायेना,
माता त्रिवोन दो फटनावेना ।।

अर्थात् जंगल और पहाड़ में हरियाली छा गयी है, वृक्ष एवं लता भी हरे भरे हो गये हैं। उष्ण से तृषित धरती में जान आ गयी है तथा किसानों में स्फूर्ति आ गयी है। इसी आशय का विभिन्न मासों का वर्णन हमें मैथिली, भोजपुरी एवं मगही के चौमासा, छः मासा एवं बारह मासा में भी मिलती है यथा भोजपुरी के इस बारह मासा की कुछ पंक्तियाँ।

पृथक मास अखाढ़ सखि हो,
गरजि गरजि के सुनाई,
स्वामी के अइसन कठोर जियरा,
मास अखाड़ नहि आय,
सावन रिमझिम बुनवा बरिसे,
पियवा भीजे ला परदेश,
पिया, पिया कहि रटेलै कामिनी,
जंगल बोलेला मोर।

संगीत पक्ष :-

जीवन एवं संगीत का नैसर्गिक सम्बन्ध का वास्तविक परिचय जितना हमें लोक-संगीत द्वारा मिलता है, उतना शास्त्रीय संगीत द्वारा नहीं। लोक-गीतों के भी शास्त्रीय गीतों की भाँति दो अंग होते हैं :- कविता और धुन अथवा शब्द और स्वर। लोकगीतों में कविता के भाव एवं उसकी धुन के भाव में एक साम्य मिलता है। जिसके कारण वे गीत अधिक हृदयग्राही बन जाते हैं। किसी प्रदेश के लोक-जीवन का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब वहाँ के लोक-संगीत में दिखाई पड़ता है, क्योंकि लोकगीतों के शब्दों व स्वरों के चयन में कृत्रिमता का अभाव रहता है। उनमें लोक-जीवन का सीधा-साधा परिचय होता है। लोक-संगीत संक्षिप्त, सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, सुन्दर, अनुभूतिमय और संगीतमय होते हैं। लोक-संगीत में अकेले गाने से कहीं अधिक सामूहिक ढ़ंग से गाने के महत्व का पता चलता है और उसमें स्वर की अपेक्षा लय का भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रभाव मिलता है। लोक-संगीत में प्रेम, भक्ति, अनुराग, धर्म आदि, मानव जीवन के सभी अवयवों का सन्निवेश है। शास्त्रीय संगीत में रागों की उत्पत्ति भी लोकसंगीत से ही हुई। कुछ रागों का उत्पादक लोक-संगीत ही है। गुर्जरी, सोरठ, गांधारी, भूपाली,

मुलतानी, बंगभैरव, कानड़ा आदि राग अपने नाम से युक्त जनपदों के लोक-संगीत का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बिहार के लोकगीतों में मैथिली, भोजपुरी, मगही और संथाली के संगीत शास्त्रीय अध्ययन करने से देखा गया है कि लोक-गीतों में अधिकतर सात शुद्ध स्वरों और दो विकृत - कोमल गांधार और कोमल निषाद स्वरों का प्रयोग मिलता है। अर्थात इनमें मुख्यतः विलावल, खमाज और काफी थाटों के स्वर लगते हैं। शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से भी इन थाटों के राग अपेक्षाकृत अधिक सरल व सुग्राह्य होते हैं। कुछ गीतों में अन्य विकृत स्वरों का भी प्रयोग मिलता है जैसे - कोमल धैवत और कोमल ऋषभ। इनमें भी कोमल ऋषभ का प्रयोग कोमल धैवत से कम है। तीव्र मध्यमयुक्त लोकगीत की संख्या नगण्य है। किसी-किसी लोकगीतों की स्वर-परिधि भी बहुत संक्षिप्त है।

अधिकांश लोकगीतों में तीन, चार अथवा पाँच स्वर ही प्रयुक्त हुए हैं। संथाली के लोकगीतों में पाँच ही स्वर प्रयुक्त हुए हैं। मिथिला में शास्त्रीय संगीत के प्रचार प्रसार व विकास के साथ-साथ अनेक लोकगीतों की स्वर सीमाओं में भी अन्तर मिलते हैं। मैथिली, भोजपुरी एवं मगही के कई लोकगीतों में सातों स्वरों का प्रयोग हुआ है। इनमें स्वर वैचित्र्य बहुत अधिक मिलता है, फिर भी बिहारी लोकगीतों में सरलता, स्वभाविकता और संक्षिप्तता आज भी वर्तमान है।

लोक-धुनों में सरलता होने का यह तात्पर्य नहीं है कि उनमें गायन क्रिया के सौन्दर्यवर्द्धक उपकरणों का पूर्णतया अभाव रहता है। यह तो लोकगीतों के गानेवाले व्यक्ति पर निर्भर करता है। ऐसे अनेक गायक मिथिला में वर्तमान हैं जो सरल से सरल धुन को गाते समय भी स्वभावतः अनेक प्रकार के खटके, मुरकियां एवं मीड़ का प्रयोग अनायास ही कर जाते हैं जिन्हें शास्त्रीय संगीतज्ञ यथेष्ट चेष्टा करने पर ही अपने कंठ से उत्पन्न कर पाते हैं। लोक-संगीत के अनेक प्रयोग शास्त्रीय संगीत के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। यह सत्य है कि अनेक राग लोक-धुनों से हुआ है - जैसे, आसा, पहाड़ी आदि। वर्त्तमान काल में शास्त्रीय संगीत का प्रभाव पड़ने आवश्यक प्रतीत होता है कि लोकसंगीत के रोचक और प्रभावशाली लेकर अपने को अधिक मधुर और और दूसरी ओर लोकसंगीत सहायता से अपनी सीमायें और परन्तु शास्त्रीय संगीत अपनी लोकसंगीत अपनी सर्वग्राहिता एवं अलग न हो।

मैथिली, भोजपुरी एवं मगही के अध्ययनोपरान्त एक बात और सामने आयी यह है कि लोक-संगीत का आधार वर्ण-व रही है। अधिकतर लोकसंगीत निम्न वर्गों ही गाया बजाया करते थे एवं आजकल अहीर, चमार, दुसाध, कहार, मल्लाह आदि एवं नृत्य आदि पाये जाते हैं। किन्तु उच्च ब्राह्मण, राजपूत आदि युवकों को लोकगीत प्रायः नहीं देखा गया है। हाँ इन गीतों को उच्च की औरतें विवाह, मुण्डन, जनेऊ आदि कई उ पर गाती हैं परन्तु आज के युवा वर्ग किसी प्रकार के लोक-गीत नहीं गाते। कुछ वृद्ध पुरुषों मुख से कभी पराती, भजन एवं कीर्त्तन सुना सकता है। इसका कारण यह लगता है कि दी काल से ही स्त्रियाँ चाहे जिस किसी भी वर्ण की निम्न समझा गया है। परन्तु संथाली लोकगीत ऐसी बात नहीं है। वहाँ प्रायः सभी लोकगीत स्त्री-पु मिलकर गाते हैं। इससे लगता है कि वहाँ व्यवस्था या स्त्री शोषण उतना नहीं है जितना सुसभ्य एवं सुसंस्कृत समाज एवं वर्गों में है।

लोकगीतों के ह्रास एवं उससे बचने के उपाय :-

बिहार में लोकगीतों का ह्रास हो रहा है यह चिन्तनीय है कि लोकगीत प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं जिसका प्रधान कारण है उसके सृजनकर्त्ता का अभाव

अतः नये लोक-गीत एवं लोक धुन बनते नहीं हैं। पुराने लोक-गीतों को बचाये रखने के लिए सुयोग्य संग्रहकर्त्ता, आवश्यक सामग्री जैसे रेकार्ड तैयार करना, लोकगीतों का स्वरलिपि तैयार करना ताकि उनके धुन, सुर एवं ताल संजोया जा सके, का अभाव है। विभिन्न भाषाई संस्थान जैसे मैथिली, भोजपुरी, मगही एकेडमी का भी कार्य इन दिशा में संतोषजनक नहीं है, जिसका मुख्य कारण सरकार के द्वारा समय-समय पर दिये जाने वाले अनुदान में कटौती है। अतः पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ को इस कार्य के लिए प्रोत्साहित करना आवश्यक है, नहीं तो उन गीतों को गाँवों, कसबों की बूढ़ी स्त्रियाँ समेटकर अपने साथ लेती चली जायेंगी।

नयी पीढ़ी के युवक-युवतियों द्वारा बनाये एवं गाये जाने वाले ''लोकगीत'' वस्तुतः लोकगीत नहीं है। विभिन्न समारोहों एवं इन अवसरों पर लोकगीत के स्थान पर ''लाइट-म्युजिक'' का प्रदर्शन लोक-संगीत का पर्यायवाची कभी नहीं बन सकता है। लोक-संगीत में जीवन के रम्य, मधुर और करूण चित्र हैं, वहाँ अनर्गलता नहीं है। लाईट-म्युजिक में हर चीज लाईट है, हल्कापन है, ओछापन है, वहाँ सभ्यता कहाँ? यही स्थिति प्रायः ''मगही'' एवं ''भोजपुरी'' ''लाइट-म्युजिक'' की भी है।

लोकगीतों के धुनों को आधार बनाकर फिल्म जगत् में जो निर्लज्जतापूर्ण, अश्लील और अभद्र वाक्य गाये जा रहे हैं, वे न काव्य ही है न गीत। हमारे महान सूर, तुलसी, विद्यापति जैसे संगीत के देवताओं की कृतियों को मनमाने ढंग से उचक-उचक कर और फुदक-फुदक कर गाना, उन कृतियाँ एवं उनके कर्त्ताओं का अपमान है। आश्चर्य तो यह है कि यह सब सरकारी एवं गैरसरकारी संस्थाओं में अनर्गलतापूर्वक् हो रहा है। इन महामनीषियों की रचनाएँ लोक का कंठहार है।

लोक-गीत, संगीत सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्मिता की पहचान है, जो अज्ञातकाल से चले आ रहे होते हैं और अनन्तकाल तक हमारी सभ्यता-संस्कृति, रीति-रिवाज, समय-समय के भावोल्लास एवं देश काल परिस्थितिजन्य विशेषताओं को संजोये हुए संवाहक होता है। लोकगीत सामाजिक जीवन का ऐसा दर्पण है जिसमें हमारे स्वरूप प्रतिबिंबित परिलक्षित होते आये हें। विश्वविख्यात हिन्दू संस्कृति का अमूल्य ग्रन्थ रामायण एवं महाभारतकालीन लोक-गीत एवं नृत्य अज्ञात काल से ही प्रवाहित होता आया है, जिसमें न तो कोई विकृति और न हीं आघात लगा है। अस्तु ऐसी अमूल्य निधि, सर्वजनीन सम्पत्ति, सर्वजन-सुलभ एवं सर्वजन बोध गम्यता-रम्यता पर समय का कुप्रभाव प्रभावित नहीं कर सके, इसके लिए सशक्त सामाजिकता, सजगता बनाए रखना अत्यावश्यक प्रतीत होता है, ताकि लोकगीतों का संरक्षण, सम्बर्द्धन अवाध गति से होता रहे।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. प्रसाद डा0 विश्वनाथ , मगही संस्कार गीत
2. सिंह डा0 अणिमा, मैथिली लोकगीत
3. उपाध्याय डा0 कृष्ण देव, भोजपुरी लोकगीत
4. झा डा0 विद्यानाथ 'विदित', मैथिली ओ संताली
5. लोक-संगीत अंक - जनवरी 1986 संगीत कार्यालय हाथरस।

मिथिला की गोदना चित्रकला में लोक-चेतना

डॉ0 पुष्पम ना

विश्व दर्शन के इतिहास में प्रसिद्धि पा चुकी मिथिला की भूमि पर पल्लवित एवं पोषित लोककला का संसार अपने आप में अद्वितीय है। जगत के लिए मंगलकामना और अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए मिथिलावासी ने साहित्य और दर्शन के साथ-साथ लोककला को वरण किया। अपने-आप को उत्सर्ग करनेवाले मनीषियों ने उच्चवर्गों और निम्नवर्गों को ऐसे संस्कार प्रदान किये हैं कि अनायास ही उनके कर्मों से कला-सृजन की छवि झलक जाती है। प्राचीन काल से ही मिथिला की प्रचलित लोक-कलाओं की चर्चा उनके साहित्य में वर्तमान है। ये लोक-कलाएं, गीत, नृत्य, नाट्य, कथा और चित्र आदि के रूप में विद्यमान है।

मिथिला में लोक-चित्र कलाओं की दो परंपरा वर्तमान है। वैसे तो मुख्यतया दोनों तरह की लोक-कलाओं को मिथिला लोक चित्रकला के नाम से जाना जाता है। परंतु मिथिला में दूसरी लोक-कला के रूप में गोदना चित्रकला की परंपरा वर्तमान है।

मिथिला लोकचित्र का संबंध प्रायः मिथिला के उच्च वर्गों से रहा है। लेकिन गोदना चित्रकला का संबंध निम्नवर्गों से रहा है। दोनों लोक-कलाओं में मिथिला की सांस्कृतिक भावनाओं के दर्शन होते हैं। लोक चित्रकला की पहली परपंरा में पूर्णतया धार्मिक और सांस्कृतिक चित्र बनाये जाते हैं। दूसरी परंपरा में सामाजिक पक्ष के साथ-साथ लोक-जीवन से संबंधित चेतना की कलात्मक छवियां दृष्टिगोचर होती हैं मिथिला की ललनाओं ने इसे अपने मस्तिष्क और उंगलियों में सहेज कर रखा है। पहली क कैनवास भूमि और दीवाल रहा है, परंतु दूसरी परंपरा की चित्रकला का कैनवास उनका शरी रहा है। क्योंकि मिथिला के अर्द्धसभ्य जातिय बीच प्रचलित चित्रांकन की इस परंपरा को स और स्थिर रखने के लिए उनके पास देह के सि कोई साधन नहीं था। प्राचीन समय से अंग-आले की इस परंपरा को कायम रखने के लिए शरीर स्थायी रूप से चित्रांकन के निमित्त जिस तक को अपनाया गया वह अत्यंत कष्टकारक है।

गोदना लोक चित्रकला के संबंध में अ धारणाएं प्रचलित है। यह प्राकृतिक सत्य है कि मृ के साथ मनुष्य का कुछ भी नहीं जाता है। नजीर लिखा है 'सब ठाठ पड़ा रह जायेगा, जब लाद चले बंजारा।' लेकिन गोदना गोदवाने वाले अपने अ को सौभाग्यशाली समझते हैं क्योंकि मृत्यु के ब 'गोदना' ही उसके साथ जाता है। प्रायः आदिवा और अर्द्ध आदिवासी समाज में यह धारणा अत्य प्रचलित हैं इसलिए राबर्ट ब्रेन ने 'गोदना को दुस दुनिया का पासपोर्ट कहा है'।[1] मिथिला में य प्रचलित है कि अविवाहिता यदि माथे पर बिन्द गोदवाती है तो उसे अच्छा घर-वर मिलेगा। गरद पर गोदवाने से मृत्योपरांत उसे स्वर्ग में मां से मुलाका होगी। हाथ पैर पर गोदना गोदवाने से मृत्यु से पू कोई घृणित कार्य नहीं करेगी। पैर पर गोदवाने से अगले जन्म में वह कागा नहीं बनेगी और अंतत यही धारणा है कि गोदना गोदवाने से स्त्री अहिवात

एसोसियेट प्रोफेसर, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

रहेगी। महेश चन्द्र शांडिल्य ने लिखा है "गुदना के चित्रगत रेखांकन उपादेय वस्तुओं के प्रतीक होते हैं। अधिकांश ऐसे गुदना चिह्नों का आलेखन करवाया जाता है, जिनका जीवन से सीधा संबंध है। गुदना सौन्दर्य वृद्धि का तो एक विशिष्ट साधन माना ही गया है, लेकिन आदिम समाज में गुदना चिह्नों के प्रति विशेष लगाव व आस्था निहित है।"[2]

ऐसी ही आस्थाओं के आलोक में और भी अनेक धारणाएं प्रचलित है जिससे उन वर्गों में परस्पर स्नेह-प्रेम भक्ति आदि की भावनाएं दृष्टिगोचर होती है। डॉ0 शिववंश पाण्डेय ने एक लेख में लिखा है - "गोदना विधि से उत्कीर्ण सामग्री जीवन पर्यन्त दृश्यमान रहती है, इसलिए संस्मरणीय घटनाओं एवं सदा स्मरणीय व्यक्तियों के द्वारा अपने अंगों पर गोदवाने की परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही है।"[3]

इस प्रकार देखा जाए तो अपने शरीर के यथोयोग्य स्थान पर महिलाएं अपना नाम, पति का नाम, इष्टदेव, अन्य देवी-देवताओं के नाम एवं चित्र आदि गोदवाती है। सांस्कृतिक प्रतीक कोशकार श्री शोभनाथ पाठक लिखते हैं - "सामान्यतः स्त्रियां विवाह होने के बाद अवश्य गोदना गोदवाती है। ग्रामीण जीवन में यह मान्यता है कि विवाह के पश्चात् शीघ्र गोदना गोदवाना पुण्यकारी होता है। यही नहीं अपितु अनजाने में हुए पाप से भी यह रक्षा करता है। ये गोदने प्रायः हाथ की कलाई पर, बांह पर गोदवाने की प्रथा है।"[4]

'गोदना' पहचान का भी माध्यम है। क्योंकि इससे हर जगह के समुदाय की पहचान भी होती है। भौगोलिक परिवेश के अनुरूप 'गोदने' की प्रकृति भी बदल जाती है। संपूर्ण संसार में न जाने कितने ऐसे समुदाय होंगे जो अपनी मानसिकता, अपने पर्यावरण के सानिध्य मे पाये जानेवाली वस्तुओं, जीवों की आकृतियां अंकित करते हैं जिनसे उनकी अपनी अलग पहचान बन सके। इस संबंध में किसी शायर की पंक्ति का उल्लेख डॉ0 शिववंश जी ने किया है-

"घर से निकलो तो पता जेब मे रखकर निकलो,
हादसे चेहरे की पहचान मिटा देते हैं।"

सृजन में पीड़ा का एहसास सांसारिक सत्य है। कला भी सृजन का अंश है। हर्बर्ट रीड ने कहा है कि "कला रमणीय वस्तु रूपों के सृजन का प्रयत्न होती है।" प्राचीन समय से ही गोदना की कला अत्यंत कष्टकारक हैं पहले गोदनहारी तुरई अथवा सेम के पत्ते का रस निकालकर धतूरे के दूध में मिलाती थी और उसमें काजल मिलाकर एक घोल तैयार करती थी, फिर बबूल के कांटे से शरीर पर गोदने का काम करती थी। गोदे हुए स्थान पर हल्दी आदि का लेप लगाकर कुछ दिनों तक छोड़ देती थी उसके बाद यह रंग पक्का हो जाता था और जीवन पर्यन्त तक रहता था। कालांतर में ऐसी प्रक्रिया में भी परिवर्तन हुए है। अब बबूल के कांटे की जगह धातु की सूई का उपयोग किया जाता है। गोदने के लिए अभी तो मशीन आदि की भी सुविधा हो गई है, परंतु मिथिला में आज भी अधिकतर जगहों अर्थात् ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक विधि से 'गोदना' गोदने की प्रथा है। गोदनहारी के लिए यह आजीविका का साधन भी है और कला की साधना भी।

गोदने की यह परंपरा कब प्रारंभ हुई, यह कहना अत्यंत कठिन है परंतु हमारे प्राचीन साहित्य में किसी न किसी रूप में इसकी चर्चा अवश्य होती आई है। मैं समझती हूं इसका चलन उस समय से हुआ होगा जबसे आदिम मानव में सभ्यता के विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हुई होगी।

जब से उसने अपने घर बनाये होंगे और वन्य जीवन में गुफाओं के चट्टानों पर कई आकृतियां खींची होंगी, फिर बाद में उन आकृतियों को अपनी देह पर ही अंकित किया होगा। जमीन, दीवाल और देह के अलावा उनका कोई कैनवास भी तो नहीं था। ऋषि-मुनि पर्वतों और जंगलों में अपनी कृतियां भोजपत्र आदि पर अंकित करते थे जिन्हें वर्षो तक बचाकर रखा जा सकता था। परंतु गोदना कला मूलतः उन समुदायों के बीच पल्लवित एवं पोषित हुई जिन्हें संग्रहित करने का कोई साधन ही उपलब्ध नहीं हुआ होगा, अन्यथा उसके भी कोई प्राचीन संग्रह उपलब्ध होते। देह पर अंकित आकृतियां ही उनकी किताब थी जिनसे वे प्रेरित होते रहे होंगे तभी से उनके अंतर में चेतना के बीज प्रस्फुटित हुए होंगे।

जिस प्रकार ऋषि-मुनियों ने एकांतवास में साहित्य की साधना की थी संभवतः गोदना चित्रकला के मूल

में उनकी कोई बड़ी साधना रही होगी। और साधक का उद्देश्य निरर्थक नहीं होता है। भारतवर्ष में इसका उपयोग विभिन्न रूपों में किया जाता रहा है। डॉ0 शिववंश पाण्डेय ने लिखा है - "पुराने जमाने में सम्राटों, राजाओं के सैनिकों के शरीर पर भी उक्त राज्य का राज्यचिह्न या गुप्तचिह्न 'गोदना' के रूप में गोदवा दिया जाता था ताकि किसी संकट में फंसने या युद्ध क्षेत्र में हताहत होने या बंदी बनाये जाने की स्थिति में उनकी पहचान हो सके। धार्मिक पंथ या सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों के बीच पंथ एवं सम्प्रदाय के लक्ष्य को 'गोदना' के रूप में उत्कीर्णन की परंपरा देखी गई है। गोदनहारी के माध्यम से गुप्तचरी कराने की बात भी लोककथाओं, लोक वार्ताओं में सुनने को मिलती है।"[5]

मिथिला में गोदना सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में भी पनपा। गोदना गोदवाने की यह प्रथा समस्त वर्गो के बीच प्रचलित रही है। मिथिला में कर्नाट राजवंश (10वीं शताब्दी) के पतन के बाद मुगल साम्राज्य का प्रभुत्व रहा। उसके अत्याचार से बचने के लिए यहां की स्त्रियां गोदना गोदवाना अनिवार्य समझती थी। क्योंकि नारी के शील की रक्षा इससे होती थी। मुगलों की एयूयाशी का शिकार वैसी महिलाएं कभी नहीं होती थी जिसने गोदना गोदवा रखा था।

बहरहाल मिथिला में गोदना गोदनेवाली को गोदनहारी कहा जाता है जो नट जाति से आती है। इसलिए इसे नटिनिया अथवा खोदपारिन भी कहा जाता है। इसकी एक पूरी जमात होती है जो घूम-घूमकर गोदना गोदने का कार्य करती है। चूंकि यह क्रिया अत्यंत कष्टदायक है, इसलिए गोदना गोदते समय गोदनहारी नववधू के साथ हंसी-ठिठोली भी करती है और सुई के गुच्छे चुभोने के साथ-साथ मधुर गीत भी गाती है। मिथिला के सामाजिक कार्यकर्ता श्री कृष्ण कुमार कश्यप ने अपनी मैथिली पुस्तक 'गोदना चित्र शैली' के आमुख में लिखा है - "सेर दू सेर धान-पान आ पुरान-धुरान आंगी नूंआ - बेह छलैक नटिनियाक बोइन, देह-हाथ पर गोदना गोदैबाक। पुरबा-पछबाक लहरि जेकां प्रेम-योगिनी नटिनिया गीत गबैत अबैत छलि आ' तरुणी-युवतीक देह पर अमिट चित्रक एकटा संग्रहालय गढ़ि कऽ चल जाइत छलि। "(पृ0 सं0 1) संभवतः सुई चुभने की इस पीड़ा को गीत के माध्यम से कम किया जाता है। मानो रोमांचकारी इस पीड़ा को गीतों में घुल-मिल जाता है। अंग आलेखन के गीतों का समायोजन उनकी आंतरिक वेदना परिणति है।

एक गीत में सास और बहू के बीच की भावना व्यक्त किया गया है। बहू अपनी गोदना गोदवाने के लिए पैसा मांगती है परंतु पैसा न देने पर बहु घर में जाकर किवाड़ बंद लेती है। गोदनहारी ऐसी भावनाओं को अत्यंत तन्मयता और मधुरता के साथ गाती है -

"उत्तरहि राज सँ, अयली नटिनिया रे जान,
जान, बैसी जे गेलै चनन बिरिछिये रे जान।
घर सँ बाहर भेली सुनरी पुतहुए रे जान,
जान, पड़ि गेलै नटिन मुख दिठिये रे जान।
मचिया बैसल तोंहे सासु बरइतिन रे जान,
जान, दिऔ सासु कोशल-गठरिये रे जान।
अइया खौकी भइया खौंकी सुनरी पुतहुए रे जान,
जान, कहमा पएबइ कोशल-गठरिये रे जान।
एतवा वचन जँओ सुनलक पुतहुए रे जान,
जान, ठोकि लेलकै वज्जर केबड़िये रे जान।"

गोदना गोदवाने के लिए स्त्री को जब किसी से पैसा नहीं मिलता है तब वह अपने पति से ऐसे मांगती है, वहां से भी निराश होने के बाद उसे बहु पीड़ा होती है और क्रोध भी आता है। पत्नी को क्रोधित होते देख पति अपनी सफाई में कहता है -

"हमरो वचनिया धनि अगिया लगैलकौ रे जान,
जान, सुइया लहरिया कोना सहितएँ रे जान।

लेकिन स्त्री अत्यंत दुखी हो जाती है उसे अपने पति की ऐसी सफाई पर भरोसा नहीं होता है। वह तो कहती है - सुई की लहर तो क्षण-दो-क्षण होती परंतु पति के वचन अधिक दुखदाई है -

"सुइया लहरिया बालुम सहितइँ हु छनमा रे जान,
जान, तोरो वचनिया छतिया बेधलकै रे जान।"

एक दूसरे गीत मे सास खुद बहू से गोदना गोदवाने का आग्रह करती है -

"पटना शहर सँ चललै खोदपाड़िन,
केयो समरिया गोदना गोदावह रे जान।
गलिये रे गलिये रेघिया अलापै,
केओ समरिया गोदना गोदवाह रे जान।
बिहुंसि सासु बाजल पुतहु गोदना गोदावह रे जान,
नहि हम सासु गोदना रे गोदाएव,
छोटकी ननदिया देत उलहन रे जान,
नहिरा गोदै वह सासु, बनबई सोहागिन
तोरे रे घरबा बालक खेलैवई रे जान।"

एक मैथिल अज्ञात कवि मंझन शेख ने विरहिणी राधा का वर्णन अपनी कविता में किया है। विरहणी राधा, कृष्ण के न मिलने पर जोगिन बन जाना चाहती है। कृष्ण की खोज में भटकते-भटकते राधा को नटिनिया अर्थात् गोदनहारी से मुलाकात होती है और उससे वह आग्रह करती है कि मेरे शरीर के प्रत्येक अंगों पर कृष्ण के नाम लिख दो। ललाट पर कन्हैया, गाल पर गिरधर, नाक पर नटवर नागर, मुख पर मुरलीधर, गला में गोविन्द माधव, छाती पर घनश्याम, बांह पर बंसुरी-बजैया, लुल्हुआ पर लीलाधर गोदवाकर राधा कृष्णमय हो जाना चाहती है -

"वने-वने घूमि-घूमि पुछथिन हे राधिका
देखल कतहु घनश्याम, हे हम जोगिन बनबै।
बाटहिं रे भेंटि गेल बहिनी नटिनिया
भेटल कतहु मोरा श्याम, हे हम जोगिन बनबै।
अंग-अंग लिखि दे बहिनी साजन सुरतिया
हमरो पिया के लाखो नाम, हे हम जोगिन बनबै।
लिखिहे लिलारे बहिनी सिरी रे कन्हैया
गाले गिरिधारी जी कँ नाम, हे हम जोगिन बनबै।
नाको पर लिखिहँ बहिनी नटवर रे नागर
मुख पर मुरलीधर जी के नाम, हे हम जोगिन बनबै।
गरा में लिखिहें बहिनी गोविन्द माधव
छतिया में सिरी घनश्याम, हे हम जोगिन बनबै।
बहियां में लिखिहें बहिनी बंसुरी बजैया
लुल्हुआ पर लीलाधर के नाम, हे हम जोगिन बनबै।
गाओल मंझन शेख एहो रे झुमरिया
पुरतो राधा तोरो मनकाम, हे हम जोगिन बनबै।"

यहां राधा की प्रेम-भक्ति असीम है। मिथिला में ऐसे अनेक गीतों की परंपरा है जिसमें गोदना चित्रकला की छवि, स्नेह-प्रेम, भक्ति, त्याग, समर्पण आदि के रूप में दृष्टिगोचर होती है। मिथिला में लोकजीवन की परंपरा के अंतर्गत गोदना सामाजिक समरसता का प्रतीक भी बन गया है। मंझन शेख मिथिला के मुस्लिम कवि थे। यहां साहित्य और कला के माध्यम से एकता स्थापित की गई है जिससे साम्प्रदायिक सद्भावना की छवि दृष्टिगोचर होती है। 'गोदना' पूर्णतया सांस्कृतिक आस्था के साथ शरीर और मन से जुड़ी हुई लोक कला है।

मिथिला में गोदना लोक चित्र के अंतर्गत बिन्दी, सूरज, चांद, तारा, पेड़-पौधा, फल-फूल, लता, झार, नदी, अंकुर, पोधी, आसनी/चटाई, सांप, झिंगा, चौकी, दीप, हाथी, भमरा, पक्षी, मछली, फुलवारी, जानवर, झुम्मर, झिझरी, शिवमंदिर, सीता जी की डाली, नागफांस, गह्बर, मानव, देवी-देवता, आभूषण के रूप में हंसुली, मोहरमाल, पैर में कारा, छारा, पाजेब, नुपूर, बांह पर बाजू, पहुंची, शंखाचूड़ी, कंगन इत्यादि बनाने की परंपरा है। इसके अलावा अपने सानिध्य में रहनेवाली वस्तुओं का चित्रांकन भी गोदनहारी करती है। गोदना में प्राकृतिक वस्तुओं का चित्रांकन अधिक होता है। किसी न किसी रूप में यह प्रतीक ही है। यह पर्यावरण सुरक्षा और उसके प्रति जागरूकता का संकेत भी है।

दूसरी ओर गोदना में पारंपरिक देवी-देवताओं, मंदिर स्वास्तिक, दीप, गह्वर आदि के चित्र उन प्राकृतिक प्रतीकों के साथ उकेरे जाते हैं। इससे ईश्वर के प्रति उनकी आस्था प्रकट होती है।

तीसरी ओर शरीर के अंगों की सजावट का भी ख्याल गोदना लोक चित्रकला में रखा गया है। प्राकृतिक प्रतीकों को लेकर विभिन्न आकृतियों में सजावट करना इसकी एक खास पहचान है। महिलाएं छाती पर हंसुली इत्यादि गोदवाती है इसके अलावा हाथ में पहुंची, पैर में पायल अथवा कारा-छारा गोदवाने में सजावट की आवश्यकता पड़ती है।

चौथी ओर बदलते समय के साथ गोदना के अंकन में भी परिवर्तन हुए हैं। 'टैटू' आदि इसके उदाहरण हैं।

'हिन्दुत्वः आस्था एवं आदर्श' में एम0ए0 अंसारी ने लिखा है - "सूर्य के वे उपासक जो सूर्य देवता का अमूर्त रूप अपने मस्तिष्क में धारण करते हैं जो कि सारा समय सूर्य के बारे में विचार करने में ध्यान केन्द्रित करते रहते थे और सूर्य का चक्र रूप अपनी भुजा, मस्तक व छाती पर गुदवाते थे। इससे गोदना कला की प्राचीनता भी सिद्ध होती है।

गोदना कला के मूल में कहीं न कहीं एक्यूपंचर और एक्यूप्रेसर चिकित्सा पद्धति काम कर रही थी। क्योंकि मैंने गांवो में यह भी सुना है कि घुटने पर गोदवाने से गठिया आदि का दर्द समाप्त हो जाता है। गोदना के साथ एक्यूपंचर चिकित्सकीय पद्धति को जोड़कर देखना अलग से शोध का विषय बन सकता है।

आधुनिक समय में 'गोदना' का रूप शहरों में 'फैंटेसी' अथवा काल्पनिक चित्रकारी ने ले रखा है। 20 जून 1999 ई0 के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के साप्ताहिक विशेषांक (पटना संस्करण) में गीता श्री ने 'फैंटेसी' की चर्चा की है। आजकल पॉपसिंगर, हॉलीवुड के सितारों तथा पाश्चात्य रंग में रंगे युवक-युवतियों के शरीर पर 'गोदने' का परिष्कृत रूप देखा जा सकता है। इसका एक कारण यह भी है कि जापान, मैक्सिको और पोलीनेशिया आदि देशों में यह कला अपने चरमोत्कर्ष पर है। इस प्रकार देखे तो गोदना कला संपूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है इसलिए इसका अपना अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी है।

'भोजपुरी लोक' वर्ष 4, अंक 7, पृ0 13-14 पर लिखित अंश का हिन्दी में अनुवाद करते हुए डॉ0 शिववंश पांडेय ने लिखा है - "इसकी लोकप्रियता एवं व्यापकता के बारे में 'गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्डस' में अजीब तरह की चर्चा है। नाट्स देश के निवासी श्री विल्फ्रेड हार्डी ने अपने शरीर के 96 प्रतिशत स्थानों पर 'गोदना' गोदवा लिया था। इससे भी जब उन्हें संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने अपने गाल के भीतर मसूढ़ा एवं आंख की भौंहों पर भी गोदना गोदवा लिया था। इसके अतिरिक्त अमेरिकावासी बर्नार्ड मोलर ने 4 दिसंबर 1989 ई0 के दिन अपने शरीर के 8160 स्थानों पर गोदना गोदवा लिया था। अमेरिका के ही एक दूसरे कला प्रेमी सज्जन [illegible] कलाकारों द्वारा अपने शरीर के 5488 स्थानों [illegible] अत्यंत कलात्मक ढंग से गोदना गोदवाया [illegible] 1980-81 ई0 में विश्व स्तर पर आयोजित [illegible] प्रतियोगिता में ब्रिटेन की महिला श्रीमती सूसन [illegible] को सर्वश्रेष्ठ 'गोदना सुन्दरी' का खिताब मिला था।

मिथिला की प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा में [illegible] का विशिष्ट महत्व है। क्योंकि गायन के साथ चित्रकला करने की प्रथा मिथिला की खास पहचान है।

मिथिला में नट की तरह दुसाध, मुसहर आदि अनेक दलित जातियों ने इस कला को सुरक्षित रखा है। इसके अलावा अन्य जातियों ने इसे शिक्षा के रूप में ग्रहण किया है। गोदना लोकचित्र अब कागज और कपड़ा पर उतरने लगे हैं। मिथिला में अधिकतर दलित वर्गों की महिलाओं ने इसे आजीविका का साधन भी बनाया है। इस क्षेत्र में मधुबनी की श्रीमती चानो देवी, श्रीमती ललिता देवी, श्रीमती महामना देवी, श्रीमती उर्मिला देवी, श्रीमती शांति देवी तथा श्रीमती कुसुमा देवी आदि को गोदना लोक चित्रकला के लिए राष्ट्रीय अथवा राजकीय सम्मान प्राप्त हो चुका है। स्त्री ही नहीं बल्कि यह सम्मान शिवन पासवान, गणेश पासवान, अशोक पासवान आदि पुरूषों को भी मिल चुका है। दलित वर्गो के बीच प्रसिद्ध इस कला को कभी मिथिला में 'हरिजन चित्रकला' भी कहा गया था।

वैसे तो भारत में अन्य स्थानों पर आदिवासी क्षेत्र में इसे 'आदिवासी लोक कला' के रूप में जाना जाता है। क्योंकि उनके बीच यह कला अधिक लोकप्रिय माना जाता है और उनकी लोक संस्कृति का अंग भी है।

मिथिला में इस चित्रकला के माध्यम से साक्षरता अभियान भी चलाया जा सकता है, जहां साक्षरता दर कम हो। 1990 ई0 से 1995 ई0 तक दरभंगा की एक संस्था 'भारती विकास मंच' के साथ मिलकर हमने उन चित्रों की आकृतियों से हिन्दी वर्णमाला के अक्षरों को निकाला और प्रयोग के तौर पर मिथिला

के वर्ष के आठ महीने तक जल-जमाव वाले क्षेत्र कुशेश्वरस्थान में मुसहर समुदाय के बीच साक्षरता अभियान चलाया। 'स्वीस रेड क्रॉस' स्वीट्जरलैंड द्वारा प्रायोजित इस कार्यक्रम में हमने शिक्षण सामग्रियां तैयार की। उन्हें यह समझाया गया कि उनके ही शरीर पर सारे अक्षर अस्त-व्यस्त होकर चिपके हुए हैं तो वे क्यों नहीं पढ़-लिख सकते? अब तो वे जल्दी ही साक्षर होने लगे और अक्षरों की पहचान उन्हें होने लगी है। सामाजिक दायित्व का यह प्रयास था जिसमें हमें सफलता मिली। सूरज, चांद की आकृतियां, छड़ी, आरी-तिरछी रेखाओं से हिन्दी वर्णमाला के लगभग सभी अक्षर बनाये जा सकते हैं।

मिथिला की लोक चित्रकला के माध्यम से वहां के अशिक्षित समाज को शिक्षा और कला के प्रति जागरूक बनाया जा रहा है। इसमे स्वयंसेवी संस्थाओं का विशिष्ट योगदान भी है।

गोदना लोक चित्रकला के माध्यम से पढ़ाई और कमाई साथ-साथ चल सकती है। गोदना को अब लोगों ने कागज और कपड़ा पर उतारना प्रारंभ कर दिया है। इससे उनके बीच रोजगार की संभावनाएं भी बनी है और इनके बनाये चित्र देश के साथ-साथ विदेश भी भेजे जाते हैं। यह सब लोगों में चेतना विकास से ही संभव हो सका है। कला का उद्देश्य सिर्फ सजावट ही नहीं बल्कि जीवन और परिवेश के बीच सार्थक चेतना भी जागृत करना है क्योकि कला और जीवन के निश्चित संबंध से चेतना का विस्तार होता है।

संदर्भ

1. आजकल, फरवरी 1995 ई0, पृ0सं0 29
2. आजकल अंग आलेखन, फरवरी 1995 ई0, पृ0 28-29
3. पाण्डेय डॉ0 शिववंश, लोक संस्कृति में गोदना का महत्व, राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका, अप्रैल 17-18 मार्च, पृ0 66
4. पाठक शोभनाथ, सांस्कृतिक प्रतीक कोश, पृ0 96
5. परिषद् पत्रिका, अप्रैल 17-18 मार्च, पृ0 67
6. परिषद् पत्रिका - लोक संस्कृति में गोदना का महत्व, पृ0 70

मानव का शरीर तंत्र एवं संगीत का चिकित्सकीय प्रभाव

डॉ0 अर्चना

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्', 'पहला सुख नीरोगी काया' वचनों ने आदि काल से ही स्वास्थ्य के प्रति मानव को जागरूक किया है। स्वस्थ रहने की अभिलाषा पृथ्वी के समस्त प्राणियों में समान रूप से पायी जाती है। वैद्यकीय सुभाषित में स्वास्थ्य को पारिभाषित करते हुए कहा गया है-

'समदोषो समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
जितेन्द्रियः प्रसन्नात्मा स स्वस्थोऽभिधीयते।।'

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान उक्त परिभाषा के प्रथम तीन-समदोष, समाग्नि और समधातु की प्राप्ति हेतु ही तत्पर है, परंतु जितेन्द्रिय व प्रसन्नात्मा के लक्ष्य से वह विमुख है। वर्तमान में चिन्तकों एवं वैज्ञानिकों ने अपने चिन्तन व अन्वेषण द्वारा निष्कर्ष दिया है कि संगीत के चिकित्सकीय प्रभावों से मानव व प्राणि मात्र के स्वास्थ्य परिरक्षण में आशातीत सफलता प्राप्त की जा सकती है। संगीत के द्वारा सभी प्रकार के मानसिक व शारीरिक रोगों के निदान में त्वरा प्राप्त कर पूर्ण स्वास्थ्य के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। यहां उल्लेख्य है कि संगीत वर्तमान चिकित्सा पद्धतियों का विकल्प नहीं है अपितु पूरक चिकित्सा पद्धति के रूप में इसके प्रयोग से रोग निदान में तेजी आती है। भारतवर्ष में संगीत का चिकित्सीय प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आया है। प्रस्तुत शोध-पत्र में शरीर रचना तंत्र का परिचय देते हुए शास्त्रीय प्रमाणों को उद्धृत कर संगीत के चिकित्सकीय प्रभावों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

शरीर तंत्रः-

प्राणि की रचना कोशिकाओं से हुई है। जो प्रा
विकास क्रम में कुछ उपर हो गये है, उनके शरीर
रचना में ऐसी कोशिकाएँ सम्मिलित हैं जिनकी क्रिय
अधिक विशिष्ट हो चुकी हैं। कोशिकाओं
विशिष्टीकरण जैसे-जैसे बढ़ता गया उनकी का
विशिष्टता भी बढ़ती गई। कार्य विशिष्टता
साथ-साथ विभिन्न वर्ग की कोशिकाओं का आका
भी विशेष प्रकार का होता गया। कार्य विशिष्टीकर
के आधार पर कोशिकाओं के तीन बड़े वर्ग होते है
1. ग्राहक कोशिका (receptor cells), 2. संवाहक
कोशिका (Conductor cells) और 3. प्रभावक
कोशिका (effector cells)। इन्हीं तीन प्रकार क
कोशिकाओं की संगठित कार्यवाहियों के फलस्वरू
प्राणी की अभ्यनुकूली क्रियाएँ सम्पादित होती है।
वातावरण में उत्पन्न उद्दीपन को प्राणी की ग्राहक
कोशिका ग्रहण करती है और एक विशेष प्रकार की
शक्ति उत्पन्न करती है जिससे निकट की संवाहक
कोशिकाएं प्रभावित होती हैं और उनमें तंत्रिका
आवेग (nerve impulse) उत्पन्न होता हैं। यह
तंत्रिका आवेग सामान्यतः मस्तिष्क में जाता है और
वहां से पलटकर किसी प्रवाहक कोशिका में आता है
जिससे क्रिया होती है। तंत्रिका-आवेग को एक जगह
से दूसरी जगह तक पहुंचाने वाली संवाहक कोशिकाओं
से बने तन्त्र को तंत्रिका-तंत्र (nervous system)
कहते हैं जिसकी सबसे छोटी कार्यात्मक

प्रवक्ता, संगीत-विभाग, रामश्रेष्ठ सिंह महाविद्यालय, चोचहाँ, मुजफ्फरपुर

(Functional) इकाई को तंत्रिका-कोशिका अथवा न्यूरौन (neuron) कहा जाता है।

तंत्रिका कोशिकाएँ भी तीन प्रकार की होती हैं- 1. संवेदी (Sensory), 2. गति (motor), और 3. साहचर्य (association)। संवेदी न्यूरौन तंत्रिका आवेग को ग्राहक कोशिका से प्राप्त करके केन्द्र तक पहुंचाता है और गति न्यूरौन आवेग को केन्द्र से निकालकर कर्मेन्द्रियों में ले जाता है। साहचर्य न्यूरौन तंत्रिका आवेग के संवाहक का कार्य नहीं करता अपितु विभिन्न न्यूरौन के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। मस्तिष्क और सुषुम्ना से बाहर केवल संवेदी और गति न्यूरौन पाये जाते हैं। साहचर्य न्यूरौन केवल मस्तिष्क और सुषुम्ना में रहते है जहां संवेदी और गति न्यूरौन भी पाये जाते हैं।[1]

सुषुम्ना (spinal cord) और मस्तिष्क (brain) के सभी न्यूरौन चाहे वे दैहिक स्वरूप के हो अथवा स्वचालित स्वरूप के, मिलकर केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का निर्माण करते हैं। परिधीय तंत्रिका तंत्र के सभी न्यूरौन मस्तिष्क और सुषुम्ना में ही आकर समाप्त होते हैं, जिनसे बाहरी उद्दीपनों के संवेदी अनुभव (sensory-experience) होते हैं। इसी प्रकार सभी गति न्यूरौन मस्तिष्क और सुषुम्ना से निकलकर आते हैं और उनमें क्रियाएं उत्पन्न करते हैं। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र ही निश्चित उद्दीपन पर शरीर के निश्चित अंग की चयनात्मक क्रिया उत्पन्न करता है।

स्वचालित तंत्रिका-तंत्र के दो भाग होते हैं

(i) अनुकम्पी तंत्र (Sympathetic system)

(ii) सहानुकम्पी तंत्र (Parasympathetic system)

सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि जब अनुकम्पी तंत्र कार्य करता है तो सहानुकम्पी तंत्र निष्क्रिय रहता है और जब सहानुकम्पी तंत्र क्रियावान् होता है तब अनुकम्पी तंत्र निष्क्रिय हो जाता है उसकी क्रिया किसी के प्रभाव से बढ़ जाती है और किसी के प्रभाव से घट जाती है। अनुकम्पी तंत्र की क्रियाएं उस समय प्रधान होती हैं जब व्यक्ति तीव्र मानसिक तनाव में रहता है। किसी दुर्घटना के समय, परीक्षा भवन में जाने के समय, शल्यक्रिया के समय आदि परिस्थितियों में अनुकम्पी तंत्रिकाओं की क्रियाओं से हृदय की गति तीव्र हो जाती है, रक्तचाप (blood pressure) बढ़ जाता है, रक्त में लाल रक्त कणों (RBC) की मात्रा बढ़ जाती है, रक्त चीनी में वृद्धि होती है, एड्रेनल-स्राव बढ़ जाता है, आंख की पुतलियां फैल जाती है, पसीना अधिक निकलता है तार की उत्पत्ति घट जाती है, इत्यादि। वहीं सहानुकम्पी तंत्र अपनी क्रिया से हृदय की गति मन्द कर देता है, रक्तचाप घटा देता है, पुतलियों को छोटी कर देता है, पाचन से सम्बन्धित क्रियाओं को बढ़ा देता है तार की उत्पत्ति बढ़ा देता है, इत्यादि। ये सभी क्रियाएं सामान्य अवस्था की है जिनसे शरीर का पोषण होता है, शरीर के अनावश्यक पदार्थ बाहर निकल जाते हैं और शुद्ध शक्ति का संचय होता है।[2]

ऐसा विश्वास था और आज भी है कि स्वचालित तंत्रिका तंत्र की क्रियाओं पर बाह्य नियंत्रण स्थापित नहीं किया जा सकता किन्तु भारतवर्ष के योगियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आन्तरिक अवस्थाओं पर व्यक्ति यौगिक साधनाओं से नियंत्रण प्राप्त कर सकता है।[3]

स्पष्ट है कि प्राणी के तंत्रिका तंत्रों पर उद्दीपनों का प्रभाव होता है। संगीत के ध्वनि, लय, ताल, मुद्राएं आदि योग शास्त्रीय आधार पर विकसित हैं अतः इसका प्रभाव निश्चित रूप से मानव के शरीर तंत्र पर सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ है।

संगीत के चिकित्सकीय प्रभावों का शास्त्रीय विवेचनः-

शास्त्रीय दृष्टि से संगीत-कला में गायन, वादन तथा नृत्य तीनों का ही समाहार होता है।[4] विकासक्रम में संगीतधारा दो रूपों में प्रवाहित हुई-सामगान तथा गान्धर्व। सामगान का प्रयोग याज्ञिक अनुष्ठानों के अतिरिक्त जन्म मृत्यु अन्त्येष्टि-क्रिया जैसे लौकिक प्रसंगों पर भी होता था।

सामानि सामगास्तस्य गायन्ति यत्सदने
हविर्धानं तु तस्याहुः पार्श्वं वाहिनी सुब्रुव्।[5]

संगीत के लिए परवर्ती काल में प्रयुक्त गान्धर्व शब्द में साम के अतिरिक्त गीत, वादन तथा नृत्य

का समावेश था। शांतिपर्व में उल्लेख है कि "इन स्वरों की अनुभूति षटपादि वाद्ययंत्रों के द्वारा होती है। इनकी अनुभूति पृथ्वी को ही होती है।"[6] इस प्रसंग में स्मरणीय है कि महान् वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बसु ने भी अपने अनुसंधानों से वनस्पतियों में प्राणतत्व के अस्तित्व को सिद्ध किया था। वर्तमान में संगीत को पादपों की उत्पादकता बढ़ाने में उपयोगी पाया गया है।

गान्धर्व विद्या के वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से महाभारत में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है, क्योंकि उस समय तक गान्धर्व ने शास्त्र का रूप धारण कर लिया था- स्वर, श्रुति, जाति, ताल, लय, करण, ग्रामराग, मूर्च्छना आदि संगीत-शास्त्रीय विषयों का वैज्ञानिक चिन्तन महाभारत काल में होने लगा था। साधारण प्रजा भी मनोविनोद के प्रमुख साधन के रूप में गीत, नृत्य तथा वाद्य का प्रयोग करती थी। क्रियाकारिता की वृद्धि एवं मन की शांति के लिए विविध वाद्य यंत्रों के प्रयोगों का उल्लेख संगीत की उद्दीपन क्षमता का परिचायक है यथा- युद्ध प्रारंभ के समय शंखनाद, संगीत के अन्यान्य उपक्रमों के अतिरिक्त ब्राह्म मूहूर्त में राजा को प्रबोधित करने के लिए वीणा वादन[7], सेना प्रयाण के समय दुन्दुभि का प्रयोग[8], युद्ध की तत्परता के लिए गोविषाणिका, भेरी, मृदंग और मुरज का समवेत उद्घोष[9], किसी व्यक्ति के वध के समय वध्य के रुदन को नगण्य बनाने के लिए तूर्य वादन आदि। इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि प्रकृति तथा आवेष्टन से प्राप्त संवेदना और सौन्दर्य-बोध को वाणी, गति एवं क्रिया में मूर्त करने में संगीत एक प्रभावपूर्ण साधन है।

संगीत का आधार नाद है, जो या तो मानव कण्ठ से प्रसूत होता है या वाद्ययन्त्रों से उत्पन्न। नाद के नियम भी निर्धारित किये गये हैं। संगीत को सात स्वरों में बाँधा गया है। अनंत काल तक विकसित दशा में भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम नाद ही था। इसलिए नाद का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर बहुत गहरा है। यह मानव हृदय की आभ्यंतर स्थितियों को व्यक्त करने में विलक्षण रूप से समर्थ है। इसका प्रभाव क्षेत्र व्यापक है--प्राणियों के मन को इच्छानुसार चंचल कर देता है, मोहे ले उन्मेष में यह सर्वथा सक्षम है। मन की प्रतीति कर्णेन्द्रिय द्वारा होती है। इस नाद के बिना गीत संभव है, न स्वर, न राग। नाद के बिना संभव नहीं होता तथा नाद शक्ति के अभाव में भी असमर्थ है-

न नादेन बिना ज्ञानं न नादेन बिना शिव

संगीत में धातु मात्र को ही गीत कहते हैं। नादात्मक और मात्र अक्षरात्मक होती है। नाद गीत का मूल कारण है- "गीतं नादात्मकम्।" की इच्छा से अंतःकरण चालित होता है और शरीरस्थ अग्नि चोट खाकर उद्दीप्त हो उठती है। उसी उद्दीपन से ब्रह्म ग्रंथि स्थित वायु क्षुब्ध हो उर्ध्व पथ में गमन करती है। कई आचार्यों (मतं शार्ङ्गदेव, भूपाल सिंह आदि) ने नाद को संपूर्ण जगत का आनंद घोषित किया है। शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर में महर्षि पतञ्जलि का अनुसरण करते हुए नाद का शब्द ब्रह्म मानकर नाद तनु को प्रमुखता दी है। यही मत सिंह भूपाल का भी है-

"नादतनुम नादस्तुनः स्वरूपं यस्य तम्, शब्दब्रह्मेत्युक्तत्वात् यदा विग्रहम्, तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविषत्।"-1.3.5

'स्वरेण, संल्लीयते योगी'; 'स्वरेण सन्ध्येद योगम्' अर्थात् संगीतमय स्वरसाधना है, स्वर ही विश्व का प्राण है। सचराचर जगत् में पशु-पक्षी, कीट सब में गति भाव विद्यमान रहता है-

खगाः मृगाः पतंगाश्च क्रूराः श्वापदोऽपि जन्तवः।
सर्व एव प्रगीयन्ते गतिः व्याप्ता दिगन्तरे।।

आज संगीत से गाय का अधिक दुग्ध देने का प्रमाण सर्वविदित है। हिरण संगीत के कारण ही आत्मविस्मृत होकर अपनी नाभि खोज बैठता है। समुद्र के 'शेरो' जन्तु का संगीत प्रेम प्रसिद्ध है। फ्रांसीसी वैज्ञानिक वास्तोव अनन्दे ने अपने अनुसंधान से यह निष्कर्ष निकाला है कि संगीत से प्रसन्नता व उत्साह प्राप्त होता है। आज जापान के विद्यालयों में सदाशयता और अनुशासन के लिए संगीत की शिक्षा दी जाती है।

आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि इस शरीर में संवित् (चेतना) के प्रथम स्पंद (चेष्टा, गति अथवा कंपन) से प्राण (वायु) की उच्चासना द्वारा अक्षर इत्यादि के विशिष्ट रूप से रहित जिस वाक् का जन्म होता है, वह नाद रूप होती हुई चित्त की हर्ष, शोक आदि वृत्तियों अथवा विधि और निषेध इत्यादि अभिप्राय को उस कार्य के संकेत के द्वारा अथवा तादात्म्य के द्वारा कर्ण गुहर तक पहुँचा देती है। नाद की अभिव्यंजना के विषय में अभिनव गुप्त का मत है कि मानवेतर प्राणी अर्थात् मृग, श्वान इत्यादि के नाद को सुनकर भी भय, रोष, शोक आदि की प्रतिपन्नता होती है। ये जो विशिष्ट वर्ग हैं, वे उन पद रूपी ग्रंथियों के तंतु हैं, जो सामान्य नाद रूपों का समुच्चय है।[12]

भारतीय चिंतकों ने प्राण सप्तक विज्ञान में प्राण की जिन सप्त अवस्थाओं का विवेचन किया है, पाणिनीय शिक्षा के अनुसार वे इस प्रकार हैं- तेजस्, वायु, श्वास, नाद, श्रुति, स्वर और वर्ण। आत्मा बुद्धि के साथ संयुक्त होकर मन का अर्थों के साथ विवक्षतापूर्वक संयोग कराती है। मन कायास्थित अग्नि प्रताड़ना करता है और वायु क्षुब्ध। वायु उस प्रदेश में मंदादि स्वर उत्पन्न करती है जो छंदोमयी वाणी को समुत्पन्न करती है। नाद भारतीय विचारधारा और निरूपण का एक प्रमुख विषय रहा है। वैदिक वाक्, तंत्रोक्त नाद, दर्शनोक्त शब्द, स्पंद, ध्वनि एवं व्यकरणोक्त स्फोट उसी के विभिन्न नाम, रूप और विवेचन हैं।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक ऑस्कर ब्रनलर ने वर्षों की वैज्ञानिक गवेषणाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि जगत् में स्फोटहीन कोई पदार्थ नहीं है। पृथ्वी के प्रत्येक पदार्थ में निरंतर बिस्फोट हो रहा है।[13] यह स्फोट की नाद है, जो चेतन-अचेतन सभी पदार्थों में निरंतर प्रवाहमान है। समस्त ब्रह्माण्ड में अबाध गति से एक अव्यक्त ध्वनि, शक्ति संपन्न ध्वनि निष्पन्न होती रहती है, इस प्रवाह और वितरण क्रम में चलता रहता है। पंच भूतात्मक सृष्टि नादमय है। आकाश को तो शब्द ही कहा गया है- 'शब्दगुणकं आकाशम्'। जल, अग्नि, वायु यहां तक कि पृथ्वी को भी नाद से युक्त कहा गया है। "विश्व के अणु-अणु में कंपन है। समस्त जगत् शब्दमय है। कंपन है, वही शब्द है और इस कम्पन से, सूक्ष्म शब्द राशि उत्पन्न होती है, यही ध्वनि है।"- (सम्पूर्णानन्द) आधुनिक स्पेक्ये ग्राफ इन्हीं ध्वनि कंपनो का एवं शब्दों का चित्रण करता है। आकाश में विचरण करती हुई मेध मालाएं नादपूर्ण हैं। अंतरिक्ष व्यापी वाक् जल वृष्टि के समय नाद के साथ ही बरसता है। प्रपंचसार के अनुसार - "संमस्त ब्रह्माण्ड एक विशेष ध्वनि नाद, प्राण आदि से परिपूर्ण है।" ऋषियों ने इसी ध्वनि को 'प्रणव' रूप स्वीकार किया है- "नादो घोषः बिंदु प्रणवः स च बीज रूपसर्ववर्णप्रभवत्वात्।" श्रीमद्भागवत के अनुसार सच्चिदानन्द से शक्ति, शक्ति से नाद और नाद से बिंदु की उत्पति हुई। यही प्रणव ध्वनि मनुष्य के भीतर और बाहर सर्वत्र अलक्ष्य भाव से गुंजरित और प्रसरित है।"[14] जिस प्रकार बाह्य ब्रह्माण्ड में सर्वत्र नाद का एक विशेष, अव्यक्त और अलक्ष्य प्रवाह है, उसी प्रकार मनुष्य में भी। पिंड और ब्रह्मांड एक है। आधुनिक शब्दावली में माइक्रोकोज्म और मेक्रोकोज्म। बाह्य जगत में वायु क्षुब्ध होकर शब्द तरंगे बनाता है, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में प्राणवायु एवं श्वास-प्रश्वास से एक विचित्र ध्वनि या नाद की निष्पत्ति होती है। मनुष्य उसे सुन नहीं पाता। वहीं नाद 'प्राणाग्नि' है।[15] जिस प्रकार हम भौतिक चक्षु से पेड़-पौधों, लताओं आदि का सूक्ष्म व्यापार नहीं देख सकते परन्तु 'केस्कोग्राफ' से ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापार प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार गहराई में उतरकर देखने से प्रत्येक वस्तु में मनुष्य के पिंड में शक्ति विग्रह का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। स्पंद का यही मूल रूप है जिसका स्थूल रूप भी विज्ञान से अनुमोदित है।

आधुनिक विज्ञान में ध्वनि संबंधी अनेक गवेषणाएं हुई हैं। पृथ्वी की चुबंकीय धाराएँ 7 साइकल प्रति सेकेंड है। मनुष्य के मस्तिष्क की चुंबकीय धाराएँ (ब्रेनवेल्स) भी 7 साइकिल प्रति सेकेंड है। इसी से ध्वनि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती है। 'शूमेन्स रिजोनेन्स' का आविष्कार इसी का प्रतिपादन करता है। संगीतशास्त्र में ध्वनि प्रवाह के प्रभावों का बहुशः उल्लेख प्राप्त होता है। जयदेव ने अपने संगीत कौशल से मृग को बुला लिया था। आचार्य श्री राम शर्मा ने लिखा है कि प्रथम महायुद्ध

में जर्मन के वैज्ञानिकों ने शब्द शक्ति द्वारा सेना का संहार करनेवाले एक यंत्र का विकास किया था, जिससे प्रतिसेकेण्ड दस लाख से अधिक कंपनों की ध्वनि उत्पन्न की जा सकती थी। इससे मनुष्य के ज्ञान तंतु नष्ट हो जाते थे।[16] यह भी विदित है कि भूकंप, भूस्खलन जैसी आपदाओं के कुछ घंटो पूर्व मानवेतर प्राणी प्राण रक्षा में उद्यत हो जाते हैं। विभिन्न प्राणियों में विभिन्न केन्द्रों (इन्द्रियों) से यह संभव होता है। जापान में 'गोल्ड फिश' तो आने वाले भूकंपकार ध्वनियों का प्रमाण देती है। फीजियोलोजीकल ट्रेमर ध्वनि कंपनो का ही उदाहरण है।

वस्तुतः संसार में मानवता एवं संस्कृति के आविर्भाव के साथ ही संगीत का उद्‌भव और विकास हुआ। इससे भावपक्ष का बाहुल्य रहता है। विविध संगीत में भावों की उच्चता, विचारों की गहनता तथा जीवन की गहन अनुभूति और उसका विश्लेषण विद्यमान रहता है, कोई जीवन व जगत् के बीच बहुत ही सुन्दर सामंजस्य पैदा करता है, किसी में सम्पूर्ण समर्पण तो किसी में मनुष्य मात्र के लिए प्रेरणादायक अपरिमित शक्ति होती है। आज के व्यस्त एवं उद्वेगपूर्ण जीवन-पथ पर चलते हुए पथिकों के लिए यह विश्राम स्थल है। संगीत के द्वारा मन की समस्त चिन्ताओं व पीड़ाओं से मुक्ति मिलती है। वस्तुतः संगीत शक्ति व तेजपूर्ण केन्द्र है, जो रोगग्रस्त तन एवं शोक संतप्त मन में अपूर्व शान्ति व शीतलता का संचार है। भारतीय संगीतशास्त्र का आधार योग-शास्त्र है। चिकित्सा के क्षेत्र में संगीत के उपयोग की अनदेखी नहीं की जा सकती। निष्कर्षतः संगीत को अनुपूरक चिकित्सा के रूप में उपयोग कर हम विभिन्न प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक उभयविध रोगों के निदान में आशातीत सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

संदर्भः-

1. दास मोतीलाल बनारसी, प्राणी और तंत्रिका सामान्य मनोविज्ञान, 1987 पृ0-59
2. वही - पृ0 89-90 ।
3. वही, Wallace and Benson, 1972; Mil 1967.
4. गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते - सं रत्नाकर- 1.1.21
5. महाभारत, शान्तिपर्व, 89.52
6. षड्जो ऋषभगान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा। धैवतश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निशादकः।। एश सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाश लक्षणः। त्रैस्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिशु।। -महाभा शान्ति पर्व- 177.36-37
7. प्रबोध्यते मागधसूतपूगैर्नित्यं स्तुवन्दिः स्वयमिन्द्रकल्प -आदिपर्व-178.14 ।
8. त्रिसामा दुन्दुभि-स्वरत्रययुक्त Three notes drums-Hopkins, Great Epic of India, Pg.-
9. क्ष्वेडा किलकिलाशब्दाः ककचा गोविषाणिकाः। भेरी मृदङ्गमुरजा हयकुञ्जरनिस्वानाः।। भीष्म प 32.4
10. संगीत दामोदर ।
11. नारद संहिता (भगवान् विष्णु का नारद से कथन)
12. अभिनव भारती- 17.5.387 ।
13. अमृत बाजार पत्रिका- 26.6.48 ।
14. श्वेताश्वतरोपनिषद्-1-3
15. स्थानं ब्रह्मग्रंथिश्च योमतः, तन्मध्ये संस्थितः प्राण प्राणाद्‌हिन् समुद्‌भवः, वह्निमारूतसंयोगान्ना समुपजायते।

    -अलंकार कौस्तु
16. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म- 1.4

सूरदास के भक्तिपद में संगीत

कुमारी आभा

ललित कला की उत्कृष्ट विधा संगीत अनादिकाल से मानव को लुभाती रही है। नाद के नियम और संगीत के सात स्वरों के सिद्धातों के स्थिरीकरण के पीछे मनुष्य की असीम साधना और कठोर तपस्या छिपी हुई है। काव्य कला की दृष्टि से जब कवि अपने अन्तर्मन को कल्पना के पंख देकर मनोहारी शब्दों से लोगों के सम्मुख रखता है तो सभी उसके साथ-साथ मानव जीवन की गहन अनुभूतियों, भावना, संघर्षों, आशाओं, निराशाओं में डुबने इतराने लगते हैं। कवि के छंद जब संगीत के संयोग से लयबद्ध होकर मुखरित होते हैं तो जीवन का संपूर्ण रहस्य तरंगित हो उठता है। काव्य में संगीत की संगति हृदय के भावों की मधुरतम अभिव्यक्ति बन जाती है। अनुभूति की गहनता के साथ-साथ भाषा की सटीकता एवं सुकुमारता जो उत्कृष्ट काव्य का अनिवार्य आभूषण है विरले कवियों में ही देखने को मिलती है। इस दृष्टि से महाकवि सूरदास की भक्ति रचनाएं इसी श्रेणी में आती है। इनके द्वारा रचित पदावलियां जहां काव्य शास्त्र के मापदंडों पर खरी उतरती है, वहीं संगीत शास्त्र की दृष्टि से विशुद्ध सिद्ध होती है। इनके काव्य के हर पंक्ति में ताल, लय और जीवन है। काव्य को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सभी रचनाओं ने संगीत को अपने अंक में समेट लिया है। संगीत के तीनों पक्ष गायन, वादन और नृत्य उनके साहित्य में समाये हुए हैं।

भक्ति मानव की सहज विभूति है। प्रत्येक प्राणी स्वभावतः अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति श्रद्धायुक्त आकर्षण रखता है। इसी श्रद्धा का विस्तार जब असीम, अपरिमित तथा अजेय परमात्मा के प्रति होता है तो वह भक्ति कहलाती है। भक्तिपरक काव्य को ही भजन कहते हैं। छंद और स्वर की दृष्टि से भक्ति संगीत के लिए कोई बंधन नहीं है। फिर भी गेय पद स्वर, राग एवं ताल से विभूषित होकर जब प्रस्तुत किये जाते हैं तो उनसे रस की अजस्त्र धारा प्रवाहित होती है। सूरदास को श्रेष्ठ भक्त और उत्तम वाग्गेयकार माना जाता है क्योंकि उनकी पदावलियों में भक्ति के प्रधान अंगों का, साधकों का, भक्ति के महातम्य का पूर्ण उल्लेख मिलता है।

सूरदास की भक्ति रचना में काव्य और संगीत का अनूठा सम्मिश्रण दिखाई देता है। काव्य मे संगीत के मिश्रण के आंतरिक पक्ष के रूप में वर्ण संगीत, शब्द संगीत, लय और तुक आदि तत्व आते हैं जो अनुकूल भाषा के निर्माण में योगदान देते हैं। संगीत के स्वर ही काव्य के शब्दों को गेयता प्रदान करते हैं और लय की योजना उस स्वरात्मकता को एक संतुलन प्रदान करती है। काव्य में संगीत के मिश्रण के बाह्य पक्ष के रूप में काव्य, काव्य में संगीत के अनुकूल लय की योजना और शब्दों में गेयात्मकता सूरदास के भक्ति रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। नृत्य के भाव भी इनकी भक्ति रचनाओं में झलकता है। सूर के भक्ति पद संगीत के इतने रागों में बंधे हैं कि शास्त्रीय संगीत के सिद्ध गायक भी इतने अधिक रागों की कल्पना नहीं कर सकते। विभिन्न पदो में विभिन्न छंदों का विधान बड़ी ही कुशलता से रखा गया है। सूर के भक्ति

शोध छात्रा, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

पदों और संगीत के मध्य रेखा नहीं खींची जा सकती। संगीत को माध्यम के रूप में अपनाने के कारण इनकी रचनाओं में संगीत के सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों पक्षों का समावेश है। बाह्य संगीत और आंतरिक संगीत दोनों का समन्वय है। संगीत तत्वों के उचित समन्वय के कारण ही संगीत के खांच में बंधा उनका साहित्य आज भी मानव को भाव-विभोर और आत्मविस्मृत कर आत्मिक आनंद की अनुभूति कराने की पूर्ण क्षमता रखता है। सूरदास की भक्तिकाव्य में संगीत तत्वों का इतना सुंदर समन्वय है कि वह काल की कठोर दीवारों को बेध कर आज भी अपना स्वर मुखरित कर रहा है और सदैव करता रहेगा।

प्रस्तुत है सूरदास रचित पद की स्वरलिपि रागबद्ध एवं लोकधुन में-

राग-कल्याण ताल-3

आरोह- सा, रे, ग, मे, प, ध, नी, सां।

अवरोह - सां, नी, ध, प, मे, ग, रे, सा।

शोभा सिन्धु न अन्त रही री।
नंद भवन भरि पूरि डभगि चलि,
ब्रज की बीथिनि फिरति बहीरी।।
देखी जाई आजु गोकुल मैं,
घर-घर बेंचति फिरति दही री।
कंहलगि कहां बनाइ बहुत विधि,
कहत न भुख सहसहुं जिबहीरी।।
जसुमति उदर अगाध उदधितें,
उपजी ऐसी सबनि कही री।
सूरस्याम प्रभु नील इन्द्रमणि,
ब्रज बनिता डर लाई गहीरी।।

स्वरलिपि (स्थायी)

1-2-3-4	5-6-7-8	9-10-11-12	13-14-15-16
		नी रे ग प	रे रे सा सा
		सो ऽ भा ऽ	सि ऽ न्धु ना
सा ध सा रे	ग रे ग ग	ग ग ग रे	ग मे ग रे
अ ऽ न्त र	ही ऽ री ऽ	सो ऽ भा ऽ	सि ऽ न्धु
प मे ग रे	ग रे सा सा		
अं ऽ त र	ही ऽ री ऽ		

× 2 0 3

अंतरा

1-2-3-4	5-6-7-8	9-10-11-12	13-14-15-16
		प ग प ध	प सां -
		नं ऽ द भ	व न भ हि
नि रें गं रें	नी रें सां सां	सां सां नी ध	प प के
पू ऽ दि उ	भ गि च लि	ब्र ज की ऽ	वी ऽ हि
प मे ग रे	ग रे सा सा		
फि र ति व	दी ऽ री ऽ		

× 2 0 3

उपर्युक्त एक अंतरे के जैसी ही अन्य अंतरों की भी स्वरलिपि होगी।

राग-काफी पर आधारित ताल-कहरवा (लोकधुन)

आरोह- सा, रे, ग, म, प, ध, नी, सां।

अवरोह - सां, नी, ध, प, म, ग, रे, सा।

माई आजु हौ बधायौ बाजै, नंद गोप राई के।
जदुकुल जादौरराइ जनमें हैं आई कै।।
आनान्दित गोपी ग्वाल नाचै कर दै-दै ताल।
अति अह्लाद भयौ जसुमति माई कै।।
भोतिनि बंधायौ वार, ठाढ़े हुरूके बजावै
हरषि आशीष देत मस्तक नवाई कै।।

स्वरलिपि (स्थायी)

1 - 2 - 3 - 4	5 - 6 - 7 - 8
गे गरे ग प	ग गरे नी सा
आ जुऽ हो व	धा योऽ बा जे
ग गम गरे ग	गभ पमे प प
नं दऽ गोऽ प	राऽ ज्य के ऽ
ग गरे ग प	ग गरे नी सा
ध पुऽ कु ल	जा दौऽ रा ई

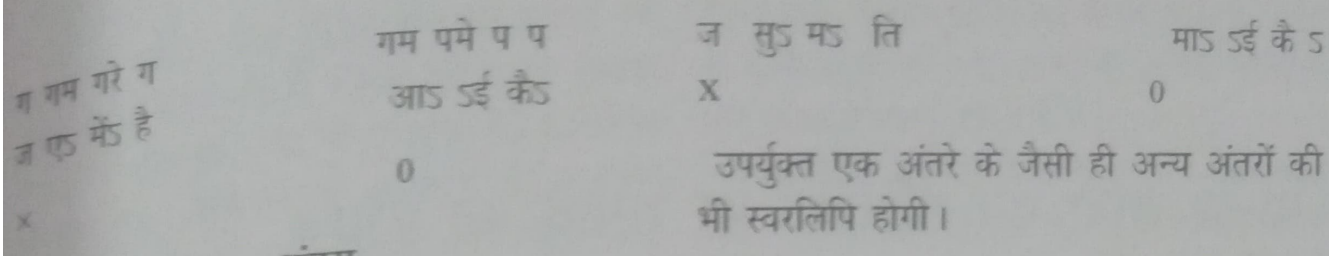

उपर्युक्त एक अंतरे के जैसी ही अन्य अंतरों की भी स्वरलिपि होगी।

अंतरा

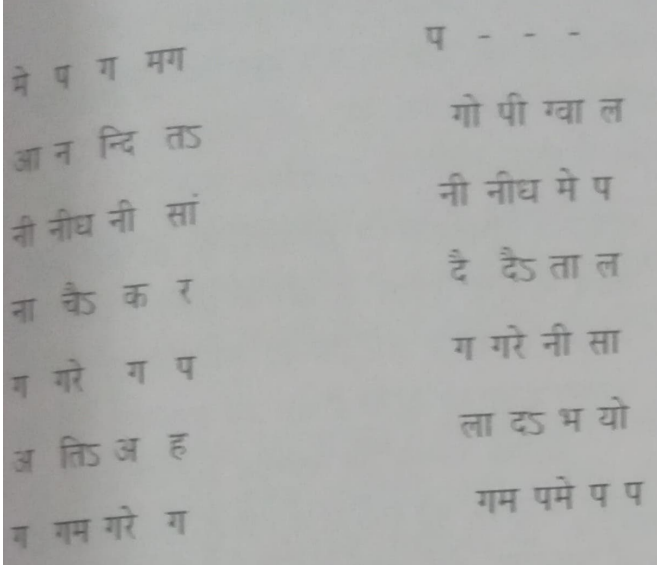

संदर्भ :

1. शर्मा डॉ0 गोविन्द प्रसाद, हमारा भक्ति संगीत : विभिन्न दृष्टिकोण
2. सूरदास के संगीत पक्ष : प्रपन्नाचार्य
3. भागवत मनोहर विनायक राव, भक्ति और संगीत का पारस्परिक संबंध
4. गर्ग लक्ष्मीनारायण संपादक, सूर संगीत, भाग-1-2
5. गर्ग लक्ष्मी नारायण, काव्य संगीत
6. शर्मा डॉ0 राजीव, सूर साहित्य में संगीत प्रवाह

मानव शरीर एवं मस्तिष्क पर संगीत का प्रभाव

प्रतिमा गु

संगीतसाहित्य कलाविहीना :
साक्षात्पशुपुच्छविषाणहीनाः। —*भतृहरि*

संगीत साहित्य और कला के बिना मनुष्य पशु के समान है। ऐसा माना जाता है कि संगीत का मूल स्रोत भारत है। यहाँ ईसा से कई शताब्दियों पूर्व सामवेद की रचना हुई थी जो पूर्णतः संगीतमय है। **गीता में कहा गया है**-*"प्रसादसत्र दुःखनां हानिरस्योय जायते।* 'प्रसन्नव्यक्ति के सारे दुःख समाप्त हो जाते है । यही कारण है, कि संगीत सामवेद को कृष्ण ने स्वंय का ही स्वरूप माना"-*वेदानांसामवेदास्मि।* सम्पूर्ण सृष्टि में नैसर्गिक संगीत है। उ की ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ता है। प्रकृति में हम जहाँ भी देखते है। नदी की कल-कल करती धारा में, जलप्रपातों के प्रवाह में, कोयल की कूक में,हवा के सुमधुर संचार में ,भोर के समय पक्षियों के कलरव आदि में संगीत ही तो है, जो हमारे हृदय को सहज रूप में आकर्षित करते है। जिसका प्रभाव हमारे मन मस्तिष्क पर पड़ता है।

संगीत एक ऐसी कला है जो कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने की अद्भुत क्षमता रखती है। व्यवस्थित सुर ताल हमारे दिमाग को झंकृत करते है। उसके साथ ही पूरे शरीर पर सकारात्मक प्रभाव भी डालते है, जिससे हमारा मन एकाग्रचित हो जाता है संगीत के स्वर लय तथा बोल और उनके संयोजन में ऐसे तत्व सम्मिलित है, जिनके द्वारा रागों में चिकित्सा भी सम्भव है क्यों कि विद्वानों के कथनानुसार संगीत के स्वरो का क्रम आकाशी तत्वों के आन्दोलनों से उद्भूत ध्वनि के आधार पर निश्चित किया गया हैं,संगीत से हमारी असाध्य बिमारियाँ दूर हो जाती है। प्रसिद्ध अंग्रे **कवि कीट्स** संगीत के बारे में कहते है कि "*संगीत न केवल हमें चिन्ता मुक्त करता है* हमारा दुःख भी हरता है यह हमें प्रसन्नता देता है

संगीत आत्मा की आवाज है। यह हमारे शरी और मस्तिष्क को स्पदिंत करता है और इससे व्य में प्रसन्नता और ऊर्जा का विकास होता है। सं मानव के व्यक्तित्व के तीनों पहलुओं यानी शारीरि मानसिक और भावात्मक को प्रभावित करता है संगीत की ध्वनि तरगें शरीर के प्रत्येक भाग प प्रभाव छोडती हैं। **हेलर मेयर** ने अपनी पुस्तक इडियन म्यूजिक इन फेलिसिटी" में भारतीय संग की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया है उन अनुसार" *भारतीय संगीत विश्व में सर्वश्रेष्ठ सरगम में दिव्य गुण होते है, जो हमारी भावना को जगाते है और सक्रिय करते है।*

विज्ञान की जानी मानी पत्रिका न्यू साइंटि में प्रकाशित एक शोध पत्र में बताया गया है कि "*संगीत मानसिक विकास का सर्वोत्कृष्ट माध्य है।*" विशेषज्ञों के अनुसार संगीत बच्चों के बौद्धि विकास और तर्क क्षमता में बढ़ोत्तरी करता है।

"डाक्टर बर्नर " ने लिखा है कि संगीत सु से स्पंदन पैदा होता है जससे रक्त संचार पेट त सीने की मांसपेशियों का विस्तार होता है।" संग की शक्ति से प्रभावित होकर महात्मा गांधी जी एक बार कहा था कि "संगीत आत्मा की बैचेनी दूर कर उसे शान्ति प्रदान करता है। यह मन अशुद्धताओं को दूर कर उसे पवित्र बनाता है।

शोधछात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इस बात से कोई इंकार नही कर सकता कि मनपसंद संगीत सुनने से दिमाग को सुकून मिलता है। इसके साथ ही तनाव भी दूर होता है। **आस्ट्रिया में हुए एक अध्ययन के अनुसार** संगीत हमारे स्वास्थ्य पर गहरा असर डालता है। संगीत हमारे आटोनोमिक नर्वस सिस्टम पर असर डालता है यह नर्वससिस्टम हमारे ब्लडप्रेशर हार्टबीट और ब्रेनफंक्शन से जुडा हुआ होता है। जब हम मनपसंद संगीत सुनते है तो हमारा ब्लडप्रेशर नियत्रिंत रहता है और हार्ट भी धीमी गति से कार्य करती है जिसके कारण हम साँस लेना शुरू कर देते है, इस प्रकिया के द्वारा शरीर के विभिन्न हिस्सों में होने वाले दर्द से राहत मिलती है।

मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि संगीत मन की तीनो अवस्थाओं चेतन अवचेतन तथा अचेतन पर प्रभाव डालता है। **हंसराज भाटिया के अनुसार** *"मधुर उत्तेजनापूर्ण संगीत सुनने से कई पुरानी स्मृतियाँ और संवेग पुनर्जीवित हो जाते है।"* **पी0 डी0 मिश्र एवं वीणा व्यवहार** के मतानुसार संगीत के माध्यम से रोगी की दबी हुई इच्छाओं एवं संवेगों को चेतन स्तर पर लाने का प्रयास किया जाता है। वह नई आशा एवं उत्साह के साथ समस्या निराकरण का प्रयास करता है। उसको संगीत से नई स्फूर्ति प्राप्त होती है तथा संवेगों का संचार होता है। दुःख में कमी आती है तथा शारीरिक क्रियाएं सामान्य रूप से कार्य करने लगती है।

मानसिक रोगियों के लिए मनोरोग चिकित्सक पीटर न्यूर्मन और माईकल सेन्डर्स ने एक ऐसा मनो रोग चिकित्सालय प्रारम्भ किया है जहाँ उपचार में संगीत वादन का ही प्रयोग किया जाता है। संगीत सुनने मात्र से रोगी के रक्तचाप रसपाक प्रक्रिया आदि कई प्रकार के शारीरिक परिवर्तन होते है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि संगीत केवल आनन्दानुभूति नहीं होती। ध्वनियाँ मानसिक स्थितियों की भी सूचक होती है। साथ ही ये हमारे मनोभावों को भी प्रभावित करती है। जिससे संगीत हमारी आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूतियों से भर देता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. गर्ग लक्ष्मी नारायण, संगीत निबन्ध
2. कपूर प्रो0 मंगला, संगीत मांगल्य
3. चटर्जी गौतम, संगीत विमर्श
4. सक्सेना डा0 मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर।

विभिन्न ध्वनियों में सांगीतिक ध्वनि : चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में

संदीप कुमार ओझ

ध्वनि अर्थात् शब्द या नाद। इस शब्द की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार प्रतिपादित व इसकी महत्ता को पुष्ट किया है। भारतीय दार्शनिक मानते हैं कि स्थूल शरीर के बार-बार नष्ट होने पर भी सूक्ष्म शरीर तब तक नष्ट नहीं होता जब तक जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर की उत्पत्ति और कर्म फल के भोग का कारण होता है।

विभिन्न दार्शनिकों, पौराणिकों, धार्मिकों व अन्यान्य विद्धानों द्वारा अन्ततः यही सिद्ध किया गया है कि यह जगत् परमात्मा का 'विवर्त' है। विवर्त अर्थात् इस संसार में जो कुछ भी दृश्यमान व अदृश्यमान है, वे सब परमात्मा के अंश हैं, जैसे- अंधेरे में पड़ी रस्सी के असली स्वरूप पर आवरण पड़कर उसमें साँप का आरोप होना और तब रस्सी को साँप समझ लेना, यही वेदान्त में विवर्तवाद कहलाता है।

परमात्मा की विभिन्न रचनाओं में मानव सबसे उत्कृष्ट रचना है, इसीलिए विशेषरूप से नाद का प्रादुर्भावक मनुष्य है। मनुष्य की इन्द्रियाँ आत्मजा हैं, इन इन्द्रियों की व्याख्या विभिन्न दार्शनिकों ने स्व-स्व मतानुसार की है।

ज्ञानेन्द्रियाँ- श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण है, जिनके विषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध हैं। कर्मेन्द्रियाँ - वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपास्थि है, जिनके विषय क्रमशः बोलना, आदान प्रदान, जाना या गमन, मल त्याग तथा रति (संभोग) है।

ध्वनि अथवा शब्द ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय का विष है, जिन्हें कानों द्वारा ग्रहण करते है, विचारणीय कि कान, आँख, नाक, जिह्वा आदि भौतिक है इनमें जीवन्तता का संचार होना सूक्ष्म है।

न्यायदर्शन के मतानुसार-

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शब्द बोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।

अर्थात् शाब्द बोध के प्रति पद ज्ञान करण अर्थात् असाधारण कारण है, पदार्थज्ञान व्यापार है शाब्द बोध फल है और उसमें शक्ति का ज्ञान सहकारी कारण है।

इसी तरह व्यवहार में भी शाब्द बोध होता है जैसे- किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति से कहा कि 'घड़ा ले आओ', यह सुनकर प्रयोज्य व्यक्ति घड़ा ले आया, यह सुनकर समीप बैठा बालक (जो शब्द का अर्थ नहीं जानता है) घटानयन रूप (घड़े को ले आने का) कार्य घटमानय, इस शब्द का प्रयोज्य है, ऐसा समझ लेता है।

पुनः ध्वनि, साहित्य में शब्द शक्ति के रूप में मान्य है, जिसमें अभिधा, लक्षणा व व्यंजना का अद्भुत प्रयोग है, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण साहित्य का व्यापार उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

विद्वानों ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ-साथ शब्द प्रमाण को भी गणित किया है, भारतीय विचारक श्रुति वचनों एवं आप्त वाक्यों को शब्द प्रमाण के रूप में ग्रहण करते आये है-

यू०जी०सी०,शोधछात्र संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी

आप्तस्तु यथार्थ वक्ता।
आप्त वाक्यं शब्दः।।

तात्पर्य यह है कि शब्द यानि ध्वनि के माध्यम से सम्पूर्ण जगत् में वाणी का व्यवहार, संज्ञादि तथा पदार्थों का बोध व अन्यान्य क्रियाएं सम्पादित हो रही है, यह ध्वनि की विलक्षणता है।

ऋषि भतृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में कहा है कि यह विश्व शब्द का परिणाम है, यह ध्वनि रूप भी है और स्वर रूप भी। इस ध्वनि को आकाश विज्ञानी महाविस्फोट मानते हैं। राजयोग, ज्ञानयोग की तरह भारतीय दर्शन में ध्वनि योग का दर्शन भी है अर्थात् ध्वनि की ऐसी व्यवस्था जो मनुष्य का ईश्वर में योग कर दें, वह शब्द ही है।

ध्वनि या कम्पन्न के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मनुष्य के शरीर में प्राण का संचार, साँस लेना नहीं बल्कि धड़कनों का कम्पन है, यानि साँस को हम कुछ देर के लिए रोक सकते है किन्तु धड़कन नहीं। धड़कन के रूकने का अर्थ है कि मृत्यु। अतः ध्वनि ही जीवन का प्रमाण है।

ध्वनि का परिचय सृष्टि के सप्त पदार्थों में में एक, 'गुण' के अन्तर्गत दिया गया है, जिसे 'शब्द' संज्ञा से अभिहित किया गया है। दर्शनानुसार यह ध्वनि तीन कारणों से उत्पन्न होती है-

(क) संयोग से ध्वनि
(ख) वियोग से ध्वनि
(ग) ध्वनि से ध्वनि

संयोग अर्थात् दो वस्तुओं के घर्षण से उत्पन्न ध्वनि, वियोग से भी ध्वनि उत्पन्न होती है, यथा- वस्त्र को फाड़ते है तो ध्वनि उत्पन्न होती है, जो वियोगात्मक ध्वनि है तथा जब हम एक बार किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो उसे एक ही बार सुनाई पड़ना चाहिए अपितु वह शब्द अनेक को सुनाई पड़ता है। इस प्रक्रिया में ध्वनि से ध्वनि उत्पन्न होती है।

ध्वनि के पक्ष में ध्वनि विज्ञानियों का मत निम्नवत् है-

(क) वह यांत्रिक तरंग उर्जा जिसे मानव कान द्वारा सुना जा सके, ध्वनि कहलाती है।

(ख) कान की संवेदना को ध्वनि कहते है।

(ग) प्रत्यास्थ माध्यम, ठोस या द्रव या गैसीय माध्यम से संचरित होने वाली अनुदैर्ध्य तरंगों को ध्वनि कहते है, चाहे वह सुनाई दे या न सुनाई दे।

ध्वनि की उच्चता-नीचता आदि सभी ध्वनि स्रोत द्वारा उत्पन्न किये जा रहे कम्पनों पर निर्भर करता है। अलग-अलग कम्पित वस्तुओं से एवं एक ही वस्तु के अलग-अलग कम्पित होने से अलग-अलग ध्वनि उत्पन्न होती है, जिनमें कुछ ध्वनियाँ कर्णकटु या थका देने वाली तथा कुछ ध्वनियाँ कर्णप्रिय एवं उत्साहित करने वाली है।

ध्वनि निर्विवाद रूप से समस्त भाषाओं की या सम्पूर्ण जगत् का प्रतिनिधित्व करती है। महामंत्र, आदि स्वर- ओम् का ध्यान करने से योगी, महात्मा आदि कैवल्यावस्था प्राप्त करते हैं-

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः।।

वर्णों की पवित्रता को ध्यान में रखते हुए नारदीय शिक्षा में उल्लेख है कि-

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्र शत्रु स्वरतोऽपराधात्।।

अर्थात् - 'स्वर से अथवा वर्ण से अपकृष्ट मंत्र मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण बुद्धिस्थ, विवक्षित अर्थ को नहीं कहता है, अयथावत् प्रयुक्त वाक् वज्ररूप वह मंत्र स्वर दोष से दुष्ट इन्द्रशत्रु शब्द की तरह यजमान को नष्ट कर देता है'' इसलिए वेद को जानने से पहले षड्वेदांग- शिक्षा, व्याकरण, ज्योतिष, निरूक्त, कल्प और छन्द को जानना चाहिए। मंत्र वास्तव में कुछ ऐसे सशक्त प्रमाण और प्रखर शब्द है, जो अपना विशेष अर्थ रखते हैं, हमारे आचार्यों ने यह शब्द बड़े अनुभव और ज्ञान के बल पर बनाये हैं और जीवन भर का निचोड़ थोड़े शब्दों में भर दिया है। इसीलिए संस्कृत व्याकरण में पाणिनि जी ने प्रत्येक वर्ण के निश्चित उच्चारण स्थान, बाह्य प्रयत्न तथा अभ्यान्तर प्रयत्नादि का उल्लेख किया है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक वर्ण एक दूसरे से भिन्न है।

कबीर दास जी ने कहा है कि -

"ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करें, आपहु शीतल होय।।"

यह दोहा वस्तुतः आप्त वाक्य है, हम विचार करें कि कभी विषम परिस्थिति, यथा- बीमारी, हानि आदि के समय कोई चिकित्सक, स्वजन या पारिवारिक मीठी वाणी में बात करें तो अनुभव है कि अधिकतम रोग स्वतः समाप्त हो जायेंगे। वैज्ञानिकों का दावा है कि रोगों में 20 प्रतिशत व्याधि तथा 80 प्रतिशत मानसिक क्लेश होता है, अब हम विचार करें कि यदि 80 प्रतिशत मानसिक क्लेश समाप्त हो जाए तो रोग की अवस्था नगण्य हो जायेगी। कबीर दास के अनुसार एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि अंहकार विहीन वाणी बोलने से हम औरों को तो शीतलता प्रदान करते ही हैं तथा स्वयं भी शीतल होते है।

प्रश्न उठता है कि रोगी को शीतलता की आवश्यकता है तो हम क्यों शीतल होवें, तो उत्तर होगा कि उस शीतलता से हम और उन्नतावस्था प्राप्त करेंगे, यथा- बैंक में जमा धन, मूल के साथ-साथ हम ब्याज भी प्राप्त करते हैं और धनाढ्य कहलाते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर उस धन से हम स्वयं तथा अन्यों की आवश्यकता को भी पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार मधुर वाणी में बात करने से हम मधुरता के धनाढ्य होते जायेंगे और यह मधुरता हमारे संस्कार में आ जायेगी, एक समय ऐसा आयेगा कि हम अपनी मधुर वाणी अर्थात् ध्वनि के बल पर किसी रोगी को ठीक कर पायेंगे।

लौकिक जीवन में भी देखें तो किन्हीं-किन्हीं की वाणी कोसों तक प्रसिद्ध है व लोग ऐसे व्यक्ति से बात करने में अपना लाभ और सौभाग्य समझते हैं।

जब सामान्य ध्वनि में इतनी विलक्षणता है तो संगीतात्मक ध्वनि का क्या कहना! संगीतात्मक ध्वनि को वर्णित करते समय विभिन्न संगीतशास्त्रियों ने आहत और अनाहत नाद को स्वीकार किया है। आहत जो सामान्य मनुष्य के वाचिक व्यवहार का आधार है तथा द्वितीय अनाहत जो योगिगम्य माना गया है, वह भी योगियों द्वारा अपने शरीर के भीतर सुना जाता है। पुनः इसी आहत नाद को दो भागों में विभक्त करते है।

नाद

1. आहत
2. अनाहत

आहत :

(i) संगीतानुपयोगी (रव)
(ii) संगीतोपयोगी

संगीतोपयोगी :

(i) पाँच भेद
(ii) तीन स्थान
(iii) तीन लक्षण

पांच भेद :

(i) अतिसूक्ष्म
(ii) सूक्ष्म
(iii) व्यक्त (पुष्ट)
(iv) अव्यक्त (अपुष्ट)
(v) कृत्रिम

तीन स्थान :

(i) मन्द्र (हृदय)
(ii) मध्य (कण्ठ)
(iii) तार (मूर्धा)

तीन लक्षण :

(i) तारता
(ii) तीव्रता
(iii) गुण

नादोत्पत्ति क्रम में संगीत रत्नाकर में उल्लिखित है -

"आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थ वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम्।।
ब्रह्मग्रन्थि स्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्व पथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वविर्भावयन्ति ध्वनिम ।।

अर्थात् - 'कहने की इच्छा रखता हुआ आत्मा मन को प्रेरित करता है। मन देह में स्थित अग्नि पर आघात करता है, वह अग्नि वायु को प्रेरित करती है, अब ब्रह्म ग्रन्थि में स्थित वह वायु ऊपर की ओर चलता हुआ क्रम से नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा और मुख में ध्वनि को अविर्भावित करती है।

अन्य दार्शनिक प्रणाली में इसी को परा, पश्यन्ति, मध्यमा, बैखरी संज्ञा से परिभाषित किया गया है।

इस प्रकार नाद की महिमा को मतंगादि ग्रन्थकारों ने भी मण्डित किया है।

एक वाक्य में 'नियमित और स्थिर आन्दोलन संख्या वाली ध्वनि को नाद कहते है।'

इसी नाद को संगीत में श्रुति, श्रुति-जाति, शुद्ध स्वर, विकृत स्वर (तीव्र, कोमल), ग्राम, मूर्च्छना, जाति, ताल, लय, कला, प्रमाण, निर्गीत, गीतक, राग-रागिनी आदि विभिन्न पारिभाषिक शब्दों से सजाया गया है, जो प्रयोग के माध्यम से मुखरित व लालित्यपूर्ण अवस्था को प्राप्त होता है। महर्षि भरत ने कहा है कि- **'यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात् तानि गीतैरूदाहरेत्'** अर्थात् जिसे हम वाक्य के माध्यम से नहीं कह सकते, उन्हें गीत (संगीत) के माध्यम से कहा जा सकता है। राग की परिभाषा में मतंग मुनि कहते हैं कि-

योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्णविभूषिता।
रंजको जनचित्तानां स रागो कथितो बुधैः।।

अर्थात् राग वह ध्वनि है, जो स्वर, वर्ण से विभूषित तथा जनों के चित्त का रंजन करने वाली हो।

संगीत-चिकित्सा की अवधारणा आधुनिक नहीं बल्कि भारतीय मनीषियों द्वारा आदि से रोपित है। गायन, वादन व नृत्य ये तीनों विधाएं मिलकर संगीत कहलाती है। शास्त्रीय संगीत में अनेक राग होते हैं, ये राग विशिष्ट स्वरावलियों से आवद्ध होते हैं, विभिन्न रागों का अपना भिन्न-भिन्न आकर्षण होता है। मनोरंजन के साथ-साथ इन रागों का प्रयोग इनके विशिष्ट गुणों के कारण चिकित्सीय कार्य में भी सम्पादित हुआ। सामवेद, जो संगीत का जनक है, के मंत्रों के गायन द्वारा असाध्य रोगों का उपचार भी किया जाता था। 'संगीत-चिकित्सा पद्धति' एक ओर जहाँ वैज्ञानिक है, वहीं कलात्मकता व अध्यात्मिकता से परिपुष्ट है।

विद्वानों ने संगीत का सम्बन्ध शरीर स्थित त्रिदोष वात्, पित्त, कफ से बतलाया है। ऋषि तुम्बुरू ने 'संगीत सारामृत' में लिखा है कि- ऊंची और असमान आवृत्ति का वात् पर, मोटी, स्थिर और गंभीर आवृत्ति का पित्त पर और कोमल तथा मृदु आवृत्ति का कफ के गुणों पर प्रभाव पड़ता है, जिस आवृत्ति में तीनों गुण हो, उनका त्रिदोष प्रभाव पड़ता है और ऐसी आवृत्ति 'सन्निपातज' कहलाती है।

संगीत मनुष्य में जिस प्रकार वीर या करूण आदि रस उत्पन्न करता है उसी प्रकार यह शरीर गत दोषों वात, पित्त, कफ पर भी अपना प्रभाव डालता है। इसीलिए शास्त्रों में स्वरों के प्रभाव-रस-कुल-जाति-वर्ण-द्वीप-ऋषि- देवता और छन्द आदि के साथ-साथ कौन सा स्वर समूह किस प्रकृति के रोग को दूर करता है, इसका भी उल्लेख किया गया है।

संगीत वनस्पतियों के लिए भी उसी प्रकार लाभदायक सिद्ध हुआ है जिस प्रकार मनुष्य के साथ-साथ पशु-पक्षियों के लिए।

संगीत-चिकित्सा में यह आवश्यक नहीं है कि रोगी को शास्त्रीय संगीत का ज्ञान हो। संगीत-चिकित्सा पद्धति में रोगी को संगीत सुनने के विशेष निर्देश दिए जाते हैं, जिनका पालन करना आवश्यक होता है।

संगीत चिकित्सको का मानना है कि संगीत शरीर और आत्मा को प्रभावित करता है, संगीत की ध्वनि हृदय गति और श्वसन गति को नियंत्रित करके मनोवैज्ञानिक रूप से शरीर पर सकारात्मक प्रभाव छोड़ती है। संगीत महिलाओं के लिए गर्भावस्था के पूरे 9 माह तक बहुत लाभदायक होता है। जहाँ घबराहट रक्तचाप, पीलिया एवं मानसिक तनाव पर नियंत्रण रखने की सफलता मिलती है वहीं तनावमुक्त

प्रसव कराने की भी सुविधा होती है। इस तथ्य को हम संस्कार गीत से भी जोड़ सकते है, जो अद्भुत है कि एक ओर माँ पीड़ा से कराहती है किन्तु गायन में 'सोहर' के माध्यम से जब माँ की तुलना कौशिल्या से तथा पुत्र की तुलना राम से की जाती है तो माँ अपने पीड़ा को भूलकर भावपूर्ण हो जाती है।

कारणवश संगीत के महत्वपूर्ण ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में पं0 शारंगदेव कुछ कहने से पहले 'पिण्डोत्पत्ति' प्रकरण को कहते हैं, जिसमें शरीर, आत्मा, परमात्मा, जीव-जड़-चेतन, योग, न्याय, आयुर्वेद आदि की व्याख्या की गई है, जो संगीत-चिकित्सा की पूर्वाग्रह है।

विद्वानों अर्थात् चिकित्सकों द्वारा मान्य है कि किसी भी एक रोग के लिए किसी एक राग का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। प्रकृति और प्रवृति के आधार पर व्यक्तियों को सात्विक, राजसी और तामसी इन तीन गुणों में वर्गीकृत किया गया है। अतः रोग निवारण हेतु संगीत या राग का निर्धारण केवल रोगी के व्यक्तित्व परीक्षण के बाद ही किया जा सकता है।भिन्न-भिन्न स्थितियों में चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले 'राग' का प्रभाव भी अलग-अलग होता है, अतः किसी भी 'राग' या 'संगीत' का प्रयोग सिर्फ अधिकृत संगीत चिकित्सक के निर्देशानुसार ही किया जाना चाहिए। आजकल बाजार में उपलब्ध 'संगीत चिकित्सा' 'म्यूजिक थिरैपी' या 'मेडिटेशन म्यूजिक' के प्रचलित कैसेट या सी0डी0 सभी रोगियों के लिए लाभप्रद हो सकते है लेकिन गलत या अनुचित प्रयोग से लाभ के बजाय हानि की आशंका भी रहती है।

वस्तुतः संगीत-चिकित्सा रोग को नहीं अपितु रोग की जड़ को समाप्त करता है, अतः **'संगीत-चिकित्सा'** संगीत विषय के अन्तर्गत पाठ्यक्रम के रूप में सम्मिलित करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. चौधरी सुभद्रा, संगीत रत्नाकर, भाग-1, व्याख्या और अनुवादकर्त्री, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000।
2. कौडिंयायनः शिवराज आचार्यः व्याख्याकार, नारदीय शिक्षा, चौखम्बा विद्याभवन, प्रथम संस्करण, 2002।
3. दाहाल आचार्य लोकमणि व्याख्याकार, कारिकावली (नयाय सिद्धान्त मुक्तावली सहिता), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, संस्करण-2003।
4. कर्णाटक डा0 (कु0) विमला लेखिका, सांख्यकारिका, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी, संस्करण-2006।
5. वर्मा श्री सतीश लेखक, संगीत चिकित्सा (एक शास्त्रीय अध्ययन), राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
6. चटर्जी श्री गौतम लेखक, संगीत विमर्श, अभिनव गुप्त अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण-2009।
7. खण्डेकर श्री भास्कर लेखक, 'आजकल' (पत्रिका), जुलाई-2008, लेख- भारतीय संगीत चिकित्सा पद्धति, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रलय भारत सरकार।

संगीत और समाज का अन्तर्सम्बन्ध

मधु कुमारी

भारतीय समाज एवं संगीत की संरचना एक लंबी सांस्कृतिक परम्परा का परिणाम हैं परम्पराएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तानांतरित हो किसी विशेष परिपाटी का संकेत करती रही है। परम्परा मूलरूप से पौराणिक कथाओं, प्रथाओं का संग्रह है। परम्पराएं संस्कृति से ही संपोषित और संबर्द्धित होती रही है। धर्म, संप्रदाय, पंथ आदि सांस्कृतिक धारा के निर्माण में अनेक प्रजातीय समूहों के साथ परम्पराओं का भी योगदान रहा है।

अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि भारतीय समाज एवं संगीत हमें आज जिस रूप में मिलता है वह किसी ने पूर्ण रूप से सोचकर बनाया था। किन्तु इसमें संदेह नहीं है कि भारत में प्राचीन काल से ही भारतीय सामाजिक विचारधारा और संगीत के मौलिक प्रश्न पर विचार होता रहा है।

विभिन्न कालों में सामाजिक सांगीतिक, विचारकों, चितकों, ब्राह्मणों, संतों, ऋषियों आदि ने ऐसी व्यवस्थाओं की कल्पना की, जो मानवीय चेतना एवं मानवता को सफलता की ओर अग्रसर कर सामाजिक सौहार्द को कायम रख सके। भारतीय समाज और संगीत को मूर्त रूप प्रदान करने में परम्परा, संस्कृति तथा धर्म का भी काफी योगदान रहा है।

प्राचीन ग्रंथों, साहित्य, काव्य व धार्मिक उद्घोषणाओं का सूक्ष्म अवलोकन करते हुए भारतीय समाज एवं संगीत पद्धति पर स्वतःही गर्व अनुभव किया जा सकता है। भारतीय समाज और संगीत जटिलता का ऐसा मिश्रण है, जिसमें मानवीय संवेदनाओं एवं चिंतन को उदात् बनाने हेतु हरसंभव प्रयास किया गया है।

प्रत्येक समाज किसी न किसी रूप में विभिन्न समूहों में बंटा हुआ है। समाज में इन विभाजित समूहों का स्थान एवं स्तर स्पष्ट है। प्रत्येक वर्ग का सदस्य सहज प्रकृतिवश सामूहिक कल्याण का कुछ न कुछ काम करता ही रहा है, जिसके कारण सामाजिक जीवन की जटिलता के साथ-साथ मानवीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए कुछ निश्चित व्यवस्थाएं स्थापित होने लगती है।

ज्ञान-प्राप्ति, सुरक्षा, भोजन एवं सेवा मनुष्य की प्रमुख इच्छाएं मानी गई है। इन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुचारू रूप से हो सके इसी वैज्ञानिक उद्देश्य से भारतीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार वर्णों की प्रतिस्थापना की गई है। जो वर्ण सामाजिक स्तरीयता की दृष्टि से जितना न्यून था उनमें उतना अधिक विभाजन हुआ और इस विभाजन का आधार हुआ क्रमिक बढ़ते आवश्यकताओं के पूर्त्यर्थ उनमें करायी गयी सेवा या श्रम। सामाजिक रंगमंच पर विभिन्न जातियों के द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका ही उसकी सामाजिक स्थिति की नियामक बनी।

गिडिंग्स के अनुसार "समाज वह संगठन है जिसमें भाग लेने वाले व्यक्ति एक दूसरे के साथ व्यवहारिक संबंधों में बंधे रहते हैं।"

भारतीय समाज विभिन्न वर्णों जातियों एवं संस्कारों के संपर्क तथा मिश्रण का निचोड़ हैं इसलिए विविध परतों को भेद कर किसी भी विषय के मूल

शोध छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

में पहुंच जाना और उसका वास्तविक रूप हृदयंगम कर पाना हर समय संभव नहीं है। भौतिक साधनों के हास-विकास के साथ-साथ सभ्यता की प्रगति अथवा अधोगति हुआ करती है। परंतु सब समय ऐसा नहीं हुआ है कि मानव-समाज के प्रत्येक वर्ग पर उसका एक सा प्रभाव पड़ा हो। सामान्यतया अपेक्षाकृत अधिक जागरूक शिष्ट-समाज की सभ्यतामूलक परिवर्तनों से लाभान्वित होता आया है। फिर भी किसी-न-किसी परिस्थिति द्वारा अथवा आंदोलन के प्रभाव से कभी-कभी लोकपक्ष प्रबल होता आया है। ऐसे अवसर पर लोक-विश्वासों तथा लोक-परम्पराओं द्वारा शिष्ट समाज तक को प्रभावित करने का प्रसंग आता जाता रहा है तथा अन्य अवसरों पर वे प्रेरणा मात्र प्रदान करते आये हैं। इस परिवर्तन का परिणाम निश्चित ही संगीत पद्धति एवं परम्पराओं पर एक नयी दिशा तथा परिणति का मार्ग प्रशस्त किया माना जाता है।

समाज के बौद्धिक तथा भावनात्मक तत्व जब निकट आने लगते हैं और दोनों सामंजस्य पूर्ण स्थिति में होते हैं, तब संगीत का स्तर भी उपर उठने लगता है। उन्नत समाज में संगीत, गीतों में स्वर, शब्द की प्रौढ़ता उसके सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा भावनात्मक स्तर के अनुरूप ही होती है। यह कथन सत्य है कि संगीत के द्वारा ही समाज का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत होता है। सभ्य समाज के गीतों की स्वर रचनाएं, सुसंगठित, प्रांजल तथा मनोरम होती है।

जिस समाज के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक स्तर में विषमता कम होती है तथा जन-साधारण का भावनात्मक स्तर ऊंचा होता है। उसका संगीत तत्व भी बड़ा प्रखर और संवेदनशील माना गया है। ऐसी स्थिति में समाज तथा संगीत दोनों एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करने लगते हैं।

सामाजिक स्तर की समता की स्थिति में संगीत का स्तर ऊंचा उठता जाता है। जब शास्त्र संबंधी जटिलताओं पर भाव का पक्ष हावी रहता है तो संगीत मूल में ईश्वर-स्तुति का माध्यम बन समाज का संपोषण करती है। यह सिद्धांत एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इशारा करती है कि संगीत में जटिलताओं के साथ सामाजिक जीवन से ली गई सीखी गई भावनात्मक अभिव्यक्ति की भी

है।

संगीत का विशुद्ध स्वरूप तर्कातीत होता है, जो मनुष्य की चेतना को एक व्यापक आयाम देकर तथा बुद्धि को शक्ति प्रदान करते हुए अतिमानसिक चेतना के क्षेत्र में ले जाता है। संगीत के सृजन की प्रक्रिया स्वर-सौन्दर्य को निरंतर जन्म देती रहती है। इसीलिए श्रोता और कलाकार द्वैत से अद्वैत की प्रक्रिया में तादात्म्य स्थापित करने लगते हैं।

राग का बौद्धिक प्रस्तुतीकरण संगीत के सौन्दर्य को जन्म नहीं दे सकता। सौन्दर्य, रंजन, आनंद और अखण्ड शांति केवल निस्सीम निस्तब्धता में ही है। विचार की विश्रांति के बाद ही व्यक्ति को परम संतोष प्राप्त होता है। इसीलिए राग और ताल का 'चिंतन' कभी 'रस-निष्पति' नहीं कर सकता जब और जहां बुद्धि को विश्रांति मिलती है संगीत का सौन्दर्य वहीं अपनी छटा बिखेरने लगता है।

संगीत की परम्परागत शैलियों के बारे में जब विचार किया जाता है तो वहां अभ्यास जन्य अवतारणा को ही सौन्दर्य की कसौटी पर कसा जाता है। कलाकार अपनी रचना और नियमों के प्रति जागरूक बना रहता है। कोई कलाकार तबतक सफल नहीं कहला सकता है जबतक वह सामाजिक न हो।

संगीत से समाज प्रतिबिम्बित होता है तथा समाज से संगीत प्रेरित होता है। वास्तव में कोई भी कला अपने समाज का प्रतिरूप हैं संगीत समाज की तत्कालिक स्थिति से भी प्रभावित होता है। संगीत समाज का सांस्कृतिक स्वरूप है। संगीत ऐसी रचनात्मक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें वाद्य, नृत्य तथा गीत की स्थिति में काल और स्थिति के अनुसार व्यक्ति विविध अभिव्यक्तियां करता है। यह सांस्कृतिक रूप यद्यपि समयबद्ध होता है, किन्तु इसके संरचित विषय के अंतर्गत सामाजिक संबंधों का दृश्य भी प्रकाशमान रहता है।

समाज से अलग न कोई कला का अस्तित्व है, न साहित्य का और संगीत का। क्योंकि कला-सृजन जिस वस्तु एवं ध्येय की आवश्यकता महसूसी जाती है, वह है-समाज। जिस प्रकार अलौकिक शक्ति में

विश्वास समाज को सही कार्यों को प्रेरित करती है, ठीक उसी प्रकार कला, साहित्य संगीत आदि तत्व भी समाज को उसका उद्देश्य लक्ष्य तथा जीवन संबंधी मर्यादाओं को प्रेरित करती है। उपरोक्त तथ्य मानवी संबंधों के लिए महत्वपूर्ण है। संगीत मनुष्य के सामाजिक हितों एवं उद्देश्यों तथा उसके द्वारा निर्मित की गई परम्पराओं को प्रभावित करता है।

संगीत किसी आदर्श का प्रत्यालेख है। संगीत सामाजिक जीवन का वैसा सिद्धांत है, जो सामाजिक वास्तविकताओं, दृष्टिकोणों का संप्रेषण के माध्यम से जन मानस के हृदय को शुद्ध एवं पवित्र करता है। संगीत समान चली आ रही परम्परागत् लोकाचार, संस्कृति, जनरीतियां को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तानांतरित करने का भी माध्यम है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने ईसा पूर्व ही कहा है कि किसी भी समाज की स्थिति राजनीति, सामाजिकता का वर्णन वहां की सांगीतिक स्थितियों को देखकर लगाया जा सकता है।

सांगीतिक स्थितियां भी समाज को प्रेरित करने का कार्य करती है। संगीत-कला मनुष्य के मानसिक विकास से संबंधित है। प्रत्येक सामाजिक मनुष्यों को अपने सामाजिक वातावरण के बीच में बचपन, जवानी, बुढ़ापा निकालना पड़ता है। ये अवस्थाएं भी कला के विभिन्न माध्यम के निर्णय में महत्वपूर्ण तथ्य सिद्ध होते हैं। किसी युग की कला और राष्ट्रीय जीवन के मध्य अटूट संबंध को दर्शाती है।

संगीत कला और साहित्य सामाजिक जीवन के कल्पनाओं को प्रभावित करते हैं तथा मानव व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। मनुष्य की कला का उपयोग भी उसके तथा मनुष्य समाज के लिए ही है। मनुष्य कलाओं को समाज से ही सीखता है, कला का कार्य करने की प्रेरणा भी मनुष्य को अपने सामाजिक जीवन की अनुभूतियों से ही प्राप्त होती है। उसकी कला का रूप उसकी अनुभूतियां ही हैं।

भारतीय संगीत में संगठन करने की अद्भुत शक्ति है। संगीत के एकछत्र में आकर जाति-पांति, ऊंच-नीच का भेदभाव समाप्त हो जाता है। सामाजिक हित हेतु कलाकारों द्वारा कला-सृजन प्रक्रिया में नैतिक मूल्यों का विशेष ध्यान रखा जाता है। कला जन सामान्य के लिए एक सौन्दर्यमूलक चेतना है। कला की परम्परा में कलाकार अनैतिक विचारों का स्पष्ट विरोधी होता है। कलाकार की सामाजिक चेतना भावों में अभिव्यक्त होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि संगीत स्वयं एक संस्कृति है, जिसमें सामाजिक समन्वय के तत्व अन्य कला चेतना से बहुत अधिक है।

संदर्भ

1. शर्मा डा0 कु0 प्रेमलता, सहसरस (नायक बक्शू के ध्रुपदों का संग्रह), प्रथम संस्करण, संगीत नाटक अकादेमी, रवीन्द्र भवन, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली, वर्ष 1972
2. शर्मा हरद्वारी लाल, कला में संगीत, साहित्य व उदात्त के तत्व, मानसी प्रकाशन, मेरठ, प्र0सं0 वर्ष 1994
3. श्रीमाली कृष्णमोहन तथा झा द्विजेन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, वर्ष 1986
4. उमर डॉ0 मुहम्मद, भारतीय संस्कृति का मुसलमानों पर प्रभाव, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, वर्ष 1996
5. सर्राफ डॉ0 रमा, भारतीय संगीत सरिता,विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 2003

लोकसंगीत में लोकवाद्य की महत्ता

संजीव कुमार

देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोकसंगीत है। लोकसंगीत दो शब्दों लोक और संगीत का समुच्चय है। जिसका अर्थ है-'जनमानस में प्रचलित सहज संगीत'। लोकसंगीत हमारे जीवन के विकास का इतिहास है, जिसमें जीवन के सुख-दुख, सामाजिक स्थिति, मिलन-विरह और जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव की भावनाएं व्यक्त होती है। यह मानव के भिन्न-भिन्न स्थानों के सामाजिक जीवन, धर्म एवं परंपरा पर आधारित हैं लोकसंगीत मानव जीवन का गंगा-यमुनी प्रवाह है जो छंदशास्त्र एवं अलंकारों के नियमों से मुक्त रहता है। जिस देश या जाति का संवदेनशील मानव जिस समय अपने हृदय के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्मुक्त हुआ उसी अवसर पर स्वयंभू स्वर, लय, प्रकृत्या उसके मुख से उद्‌भुत हुए और उन्हीं स्वर, गीत और लय को नियमबद्ध कर उनका जो शास्त्रीय विकास किया गया वही देशी संगीत कहलाया। मतंग रचित वृहद्देशी देशी संगीत का प्रमाणिक ग्रंथ है। गहराई से यदि देखा जाए तो प्रचार में गाये जानेवाले रागों का उत्पादक लोकसंगीत ही होगा। यह सर्वविदित है कि शास्त्रीय संगीत की उत्पति लोकसंगीत से ही हुई है। लोक संगीत का निर्माण स्वाभाविक होता है। जिस प्रकार लोक भाषाएं स्वयं बनते हैं, उसी प्रकार लोक धुनें भी स्वयं बनते रहते हैं। लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत के समय में न बंधकर अवसर से बंधा रहता है। लोक संगीत का उद्‌भव संसार की सृष्टि के साथ ही माना जाता है। परंतु, इसके रचनाकार प्रायः अज्ञात हैं, क्योंकि इसकी रचना में किसी एक व्यक्ति विशेष का हाथ न होकर संपूर्ण मानव समाज का ही हाथ रहा है। किसी भी शुभ अवसर पर एक व्यक्ति द्वारा आनंद विभोर होने पर एक पंक्ति गाया गया फिर अन्य व्यक्तियों ने पूरे लोकगीत का निर्माण किया और धीरे-धीरे एक से अधिक लोगों द्वारा गाया गया। हमारे देश का समृद्ध लोकसंगीत युगों-युगों से लोकमानस को अनुप्राणित एवं आह्लादित करता चला आ रहा है। लोकसंगीत मानव जीवन के अनेकानेक प्रसंगों एवं विविध चरणों से सम्बन्धित नारी-पुरूष कंठों द्वारा उपजी लोकमानस के हृदयगत भावों की गंगामयी पावन धारा है।

पूर्व में लोक परिपाटी तथा वेद परिपाटी नाम से दो पृथक परिपाटियां थीं। वेद परिपाटी वेद सम्मत होती थी और लोक परिपाटी वैदिक बंधनों से स्वतंत्र। महाभारत में वेदविधि और लोकविधि में विरोध बतलाने वाले कई स्थल हैं-

'वेदाच्च वैदिकाः शब्दाः।

सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः।।'

'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रार्थतः पुरूषोत्तमः।।'

इससे यह प्रमाणित होता है कि किसी भी युग में शिष्ट या परिनिष्ठित साहित्य से बहिर्भूत जो कुछ होता है वह उस युग में लौकिक कहलाता है और जो आज लौकिक है वही कल शिष्ट साहित्य के अंतर्गत आ जा सकता है।

जो लोक शब्द से शास्त्रीयता विहीन, पद्धति विहीन एवं नगरों से बहिर्भूत ग्राम्य साहित्य का तात्पर्य ग्रहण करते हैं उनकी भ्रांतियों का खंडन

शोध छात्र, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

करते हुए डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है, ये लोग नगर में परिष्कृति रूचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं। 'गै' धातु मे 'क्त' प्रत्यय जोड़ने से 'गीत' शब्द बनता है। आचार्य पाणिनी के अनुसार 'गै' परस्मैपदी धातु है। साम-संहिता-भाष्य के अनुसार 'आभ्यंतर प्रत्यय से स्वर-ग्राम की अभिव्यक्ति गीत' है। मैथिली में किसी के सम्मुख कुशल समाचार पूछते समय 'लोकवेद' शब्द का व्यवहार अधिकतर किया जाता है। लोकवेद की प्राचीनता का प्रमाण हमें अष्टाध्यायी के 6/1/123 सूत्र- 'सर्वत्र विभाषागोः' में मिलता है, जिसके अनुसार लोक और वेद में एंगत गो शब्द का पद के अंत में विकल्प से प्रकृति भाव है-

'लोके वेदे चैन्तस्य गोरिति का प्रकृतिभावः स्यात्पदांते। गो अग्रम। गो ग्रम।'

स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनी ने लोक की सत्ता को वेद से अलग माना है। महामुनि वेद व्यास ने लोक का व्यवहार साधारण जनता के रूप में किया है-

'अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तुविचेष्टतः।
ज्ञानांजन श्लाकामिर्नेगोन्मीलन कारकम्।।[2]

तथा

'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।।[3]

'लोक' शब्द के दो अर्थ अधिक प्रचलित है। एक तो वह जिससे इहलोक या परलोक आदि का बोध होता है और दूसरा वह जिससे साधारण जनता का बोध होता है। ध्यातव्य है कि भाषा के विकास क्रम में परवर्ती काल में 'जगत' के पर्याय के रूप में प्रचलित 'लोक' शब्द में तो परिवर्तन नहीं हुआ। परंतु जनसाधारण के पर्याय के रूप में प्रचलित 'लोक' शब्द बदलकर 'लोग' शब्द के रूप में व्यवहृत होने लगा।

'लोक' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. कुंज बिहारी दास लिखते हैं-'The people that live more or less in primitive conditions outside the sphere of sophisticated influence.' इसी तरह मैथिली के रंग चिंतक डॉ. महेन्द्र मलंगिया ने लोक को 'समाज का सामान्य जन कहा है', इसी बात को विस्तार देते हुए वे कहते हैं- यह सामान्य जन समाज का वह वर्ग है जो परिष्कृत संस्कार तथा शास्त्रीय चेतना से दूर रहता है। यह वर्ग समाज में प्रचलित रूढ़, अंधविश्वास तथा प्रवाहपूर्ण परंपरा में अपना जीवन व्यतीत करता है।[4] जबकि विजयपाल सिंह ने लोक को 'सदिखन शिष्ट जनता सं भिन्न रहल अछि' कहा है।[5] मानव हृदय का ही दूसरा नाम संगीत हैं शास्त्र मतानुसार - गीत, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों कलाओं का योग ही 'संगीत' है, परंतु संगीत की यह परिभाषा अपूर्ण है। वास्तव में, संगीत तो हृदय से उत्पन्न होता है, हृदय पर ही अपना प्रभाव डालता है और हृदय में ही लीन हो जाता है। संगीत वह रहस्यमय रचना है जिसके द्वारा मानव के हृदय के उद्‌गारों को दूसरों के सामने प्रकट करता है और इसी प्रकार दूसरों के मनोगत भावों को स्वयं समझ भी सकता है।[6]

संगीत आत्मा की औषधि है और उस आत्म-तत्व को पुष्ट और संवर्धित करने वाला है 'लोकसंगीत'। लोकसंगीत अर्थात् लोक का लोक के लिए लोक द्वारा निर्मित संगीत। यह पूर्ववर्तियों से पश्चात्‌वर्तियों को परम्परागत रूप में मिलनेवाला संगीत है। यह बरगद के उस घने वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ें दूर भूतल में धंसी हुई है और जिसकी शाखाओं पर नित्य नई-नई कोपलें फूटती रहती हैं। हमारी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने वाले सुदृढ़ प्रहरी हमारे लोकसंगीत ही हैं। चक्की पीसती अम्मा और चरखा कातती दादी की मधुर स्वर-लहरियां 'लोकगीत' ही है। इनकी रचना में किसी विशेष व्यक्ति का हाथ नहीं होता। चक्की पीसते, बर्तन मांजते, चरखा कातते, खेतों में गुड़ाई-बुवाई करते, खेत-खलिहानों की रखवाली करते, जब भी मन में भाव लहरी उठी लोकसंगीत बन गया। एक कड़ी बनी और देखते-देखते कड़ियों का समूह बन गया और जन समूह उसे गा उठा। न भाषा-विज्ञान का झंझट, न जटिल संगीत का बोझ। सीधे-सादे शब्दों में बंधी सरल स्वरावली

किन्तु भावों की मार्मिकता मन को झकझोर देनेवाली। संगति के लिए कांसे का कटोरा और ढोल।

लोकसंगीत सहज संगीत है, जहां आडम्बर और विचित्रता को स्थान नहीं है। कोमलकांत पदावली व सहज, सरल स्वरावली में भावों का सूक्ष्म एवं मार्मिक चित्रण इन्हें महाकाव्यों से भी आगे कर देता है। देवर-भाभी का सहज आकर्षण, ननद-भाभी की तकरार, जीजा-साली का प्यार, जंवाई का लाड़, समधिन की गाली, जच्चा की मनुहार क्या किसी फिल्मी-संगीत या शास्त्रीय संगीत में मिल सकता है? उत्तर होगा नहीं। इन सबका अपरिचित खजाना हमारे लोकसंगीतों में है।

लोकसंगीत की अभिव्यक्ति जीवन को सरसता प्रदान कर लोकसंस्कृति और कला को युग-युग से सुरक्षित रखा है। लोकजीवन में लोकसंगीत की चिरन्तन धारा अनादिकाल से चली आ रही है। मेरे विचार से ये लोकगीत मानव हृदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तिरहुतम अवस्था की गति है। जिसमें स्वर और ताल की प्रधानता न होकर लय और धुन की प्रधानता होती है। लय को यदि वैज्ञानिक ढंग से ध्वनि लहरों में बदला जाए तो निश्चित रूप से एक झनकार का रूप होगा, यही झनकार हमारे लोकगीतों की आत्मा है। तन्मयता की चरम स्थिति लय है। किसी स्थिति में तन्मयता लाने के लिए इस झनकार की आवश्यकता है। इसलिए लोकगीतों में हृदय को तन्मय करने के लिए लय की आवश्यकता पड़ी। फलस्वरूप वाद्यों का प्रयोग प्रारंभ हुआ। लोकजीवन से लेकर साधना पथ तक इस लय का अपना महत्व है। प्रत्येक स्थान पर गानेवाले के लिए वाद्य उपस्थित किया जाता है। लोकजीवन में वाद्यों के हमें दो रूप मिलते हैं।

1. मनुष्य की क्रियाएं वाद्य का स्वरूप धारण कर लेती है। जैसे-धकेली के चलाने से उत्पन्न ध्वनि। इसे सुविधा के लिए क्रिया वाद्य का नाम दे सकते हैं।

2. जहां किसी वस्तु को हम वाद्य के स्थान पाते हैं। जैसे-ढोलक, डमरू, वंशी, शंख आदि। वस्तुओं को हम वस्तु वाद्य कह सकते हैं।

जीवन में वाद्यों का प्रमुख स्थान रहा है। गाथाओं में हम वाद्यों को किसी-न-किसी रूप में हैं। शिवजी डमरू बजाते थे जो आज तक लोकजीवन बना हुआ है। इसका प्रयोग नेपाल तथा उसके प्रांत के लोकजीवन में मिलता है। विष्णु के हाथ शंख मिलता है, जिसे बजाकर विष्णु ने प्रथम उत्पन्न किया था। कृष्ण के हाथ में वंशी का भी जीवन में वाद्यों की व्यापकता का द्योतक है। रामायण काल में रावण संगीतज्ञ था। यह प्रसिद्ध कि वह शिवजी के नृत्य के समय मृदंग बजाया करता था। किंवदन्ती है कि ब्रह्मा ने ढोल की रचना त्रिपुर राक्षस के रक्त में मिट्टी सानकर तथा उसके के चमड़े से मढ़कर की थी। उदाहरण से स्पष्ट कि जीवन में वाद्यों की व्यापकता है। लोकजीवन में आनंद और उत्साह बढ़ाने में वाद्यों का सदैव प्रयोग होता आया है क्योंकि आज भी वाद्य जीवन के एक अंग के रूप में लोकजीवन में मिलते हैं। ग्रामीण बालक आज भी आम की गुठली घिसकर पपीहरा बनाकर वाद्य के रूप में प्रयोग करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह स्पष्ट है कि लोकजीवन में रचे बसे लोक-संगीत में लोकवाद्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लोकसंगीत में प्रयुक्त लोकवाद्यों के संरक्षण संवर्धन की आवश्यकता है क्योंकि कई लोक वाद्य विलुप्त होते जा रहे है।

संदर्भ :

1. अष्टाध्यायी : 6/1/122
2. महाभारत : आदिपर्व 1/84
3. वही, 1/101-102
4. मलंगिया, डॉ महेन्द्र : मैथिली लोकनाट्य विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण, प्रकाशक मैथिली लोकरंग, नई दिल्ली, पृ0 19
5. तथैव, पृ0 19
6. चांदावत, नरेन्द्र कुमार : संगीत, मई 2005, हाथरस, पृ0 49

रसानुभूति में काकु का स्थान

नवीन शर्मा

संगीत में रस निष्पत्ति का सबसे महत्वपूर्ण साधन काकु है। काकु का अर्थ है ध्वनि की लोलता अथवा लचीलापन एवं हृदय के उत्ताप भाव को अभिव्यक्त करने वाला। काव्य तथा संगीत में अंतर है कवि एक बात कहकर आगे बढ़ता है, परन्तु संगीत में रूपकालाप्ति, आलाप की सुकुमारिता एक-एक भाव के सूक्ष्मतम भेद ध्वनि काकु द्वारा संगीत के विभिन्न रूपों में व्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति केवल संगीत कला में ही संभव हो सकती है। संगीत तो ऐसी कला है जिसमें शब्द को भूलकर स्वरों तथा सूक्ष्म भावों को सुनना होगा। तभी आप रस विभोर होकर रस का आनन्द ले सकते हैं। पं0 शारंगदेव ने संगीत में काकु की चर्चा करते हुए स्वर काकु, राग काकु, अन्य राग काकु, देश काकु, क्षेत्र काकु तथा अन्य काकु का वर्जन किया है। स्वर काकु से तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट स्वर का उच्चार इच्छित है जिसे राग का रूप प्रकट करने में सहायता मिले जैसे राग बोड़ी एवं दरबारी का कोमल गान्धार। राग काकु एक विशेष स्वरावलि है जिसमें राग का रूप स्पष्ट एवं स्थिर होता है। जैसे- भैरव में ग म ध़ ध़ प

अन्य राग काकु का अर्थ होता है किसी अन्य राग की छाया। ऐसे स्वर समूह जिनके द्वारा अन्य राग की छाया स्पष्ट हो, जैसे राग श्याम कल्याण, जोग कौंस इत्यादि। देश काकु, देश विशेष से सम्बन्ध रखता है अर्थात् संगीत में जब प्रदेश विशेष की परम्पराओं का दिग्दर्शन हो जैसे जयपुर, मध्यप्रदेश भिन्न भिन्न शैलियों में प्रस्तुत करेंगे और वे सभी शैलियां रसात्मक आनन्द प्रदान करेंगी।

क्षेत्र काकु का सम्बन्ध सीधा कंठ से है। भिन्न भिन्न कंठों की ध्वनि में भिन्नता आवश्य रहती है। प्रत्येक वाद्य पर अलग-अलग हाथों की अलग विशिष्टता होती है, यही क्षेत्र काकु कहलाता है क्योंकि ध्वनि के विशेष गुण से ही यह उत्पन्न होता है।

यन्त्र काकु वाद्यों की ध्वनि से सम्बन्धित है। प्रत्येक वाद्य में अलग-अलग राग अलग-अलग प्रकार से बजता है। कुछ राग किसी वाद्य में विशेष रूचिकर लगते हैं तो कुछ अन्य वाद्यों में, यही वाद्य विशेष के लिए सही रागों का चुनाव श्रोताओं के लिए अधिक प्रभावशाली होता है।

गायन-वादन में रसानुभूति के लिए काकु का प्रयोग अति आवश्यक है। संगीत का एक मात्र उद्देश्य रंजन करना है, रंजकता के उपरान्त ही भावुकता का प्रश्न जागृत होता है। भावुकता और रंजकता दोनों के मिश्रण से ही रसिकता उत्पन्न होती है। इस प्रकार संगीत को भावुक बनाने में काकु प्रयोग अत्यंत सहायक एवं आवश्यक तत्व हैं। काकु के प्रयोग के द्वारा ही गायन-वादन के कार्यक्रम में भावुकता एवं रसात्मकता आती है।

डॉ0 प्रेमलता शर्मा जी के अनुसार माधुर्य, ओजस तथा प्रासाद यह तीव्र गुण रस तत्व की आत्मा है। उनके अनुसार "हमारे राग रागिनियों का गायन वादन हम दो प्रकार से करेंगे- माधुर्यपूर्ण अथवा ओजसपूर्ण"। माधुर्य-ओजस गुण संगीत में रस तत्व आनन्दानुभूति के महत्वपूर्ण गुण है।

पं0 बलवन्त राय भट्ट 'भावरंग' ने अपने लेख 'रसानुभूति में काकु भेद का स्थान' में काकु पर

जूनी0फी0 नेट, का0हि0वि0वि0 वाराणसी

अत्यन्त महत्वपूर्ण चर्चा की है जिसमें उन्होंने काकु भेद के साथ-साथ अपने पूज्य गुरुवर पं0 ओमकार नाथ ठाकुर की गानकला में काकु प्रयोग के महत्व का विशेष उदाहरण दिया है।

रंजकता के साथ रसवत्ता भी संगीत का अनिवार्य गुण है। व्याकरण की प्रधानता, तान, बोलतान, गमक आदि से रस उपेक्षित हो जाता है और रसविहीन संगीत आनन्द नहीं दे पाता। इस दृष्टि से काकु अर्थात् ध्वनि का उतार-चढ़ाव आन्दोलन, कम्पन, लय अलग-अलग भाव उत्पन्न कर विशिष्ट भावों की अभिव्यक्ति अथवा उद्दीपन कार्य करता है। अन्य कलाओं की भाँति संगीत भी आनंद की अभिव्यक्ति है। जब कोई कलाकार किसी बंदिश का गायन कर रहा होता है तो वह बंदिश के भावों को मुखरित करता है।

राग गायन आध्यात्मिकता के भावों को पुष्ट करता है। जैसे मध्यकाल में जयदेव, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा जैसे भक्त कवियों ने शास्त्रीय रागिनियों को अपनाया। गायन द्वारा पशुओं प्रभावित करना, बुझे दीपकों को जला देना, वर्षा देना, संगीत का प्रभाव ही है। संगीत इतनी कला है, इतनी असीम भी है कि बंदिश के हर में भिन्न-भिन्न रसों की अवधारणा हुआ करती रस का संगीत में विशिष्ट स्थान है और रस उत्पत्ति काकु के उपयोग से ही संभव है।

संदर्भ सूची

1. चटर्जी, गौतम, संगीत विमर्श, संस्करण 2009
2. शर्मा, प्रो0 स्वतंत्र, सौन्दर्य, रस एवं संगीत, संस्क 2004
3. वृहस्पति कैलाशचन्द्र देव, भरत का संगीत सिद्धा उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, संस्करण 1991

रवीन्द्र संगीत में बंगाल के लोक संगीत का प्रभाव

निशा बेगम

भारतीय संगीत परम्परा की एक अन्यतम धारा है देशी या लोक संगीत। हर राज्य के कुछ विशेष लोक संगीत होते है। बंगाल का लोक संगीत पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण भागों के कारण विविध प्रकार का है तथा बहुत समृद्ध है। बंगाल गाँव प्रधान रहा है इसलिए ग्राम्य जीवन की संस्कृति का शहरीकरण वहाँ अधिक नहीं हो सका।

बंगाल के लोकसंगीत में भवइया, गंभीरा, बाउल, भटियाली, चटका, तथा कीर्तन प्रमुख है। इसके अतिरिक्त सारि (मजदूर तथा मल्लाहों का गीत) जारी (पूर्वी बंगाल के मुस्लमानों का मर्सिया गीत) झूमर (पश्चिम बंगाल में लगे हुए सन्थाल क्षेत्र से सम्बन्धित गीत) करम गीत, आल्काप गीत, बोलान गीत, आगमनी गीत, बारामासी गीत प्रचलित है जो विभिन्न जाति, व्यक्ति तथा सम्प्रदाय से सम्बन्धित है।

रवीन्द्रनाथ अपने प्रारंभिक जीवन से लोकजीवन से जुड़े थे अतः लोक साहित्य की मानवधर्मी अभिव्यक्ति और सौन्दर्य वहिः प्रकाश उनके साहित्य और संगीत दोनों में स्पष्ट दिखता है।[1]

बचपन से ही रवीन्द्रनाथ को बंगाल के ग्राम्यांचल का संगीत अपने घर पर सुनने को मिला था। माता की अस्वस्थता के कारण रवीन्द्रनाथ बचपन से नौकरों की देखरेख में रहे थे। उन्हीं नौकरों में ईश्वर नाम का एक नौकर था जो कि उन्हें रामायण व महाभारत के रोचक किस्से सुनाया करता था तथा दूसरा नौकर किशोरी चटर्जी बहुत अच्छा पांचाली गाता था। बच्चे बड़ी एकाग्रता से रामायण के प्रसंगों में खो जाते थे तथा काव्यगान एवं पांचाली की धुन में झूमते हुए सो जाते थे। रवीन्द्रनाथ ने किशोरी चटर्जी से बचपन में कुछ गीत सीखे थे जो निम्न है-(1) ओरे भाई जानकी रे दियो एशो वन (2) रागां जबाय शोभा पाय (3) प्राण तो अस्त होलो आमाए कमल आँखि (4) कातोरे रेखों रागां पाय माँ अभये। किशोरी के इन गीतों ने रवीन्द्रनाथ पर लोकगीतों की परंपरा डाली इसे उन्होंने अपने लेखों में बारम्बार स्वीकार किया है।

बड़े होने पर रवीन्द्रनाथ किसान, फकीरा, वैष्णव, संयासी, मछुवारे, माझी, मल्लाह सभी से बंगाल के पल्लीगीत (लोकगीत) सुनते तथा सीखते थे, जिसका उनकी रचनाओं पर बहुत प्रभाव पड़ा। बंगाल के लोक गीतों से प्रभावित रवीन्द्र संगीत को 5 भागों में बॉटा जा सकता है। (1) बाउल (2) भटियाली (3) रामप्रसादी (4) सारिगान (5) कीर्तन

बाउल और रवीन्द्र संगीत में उसका प्रभाव

14वीं शताब्दी के अंत में बाउल लोगों के द्वारा गाए गीतों का नाम बाउल कहलाया। बाउल लोग विष्णु या चैतन्य महाप्रभु अथवा योगियों के सम्प्रदाय के होते है फिर भी विष्णु भक्ति से उनका कोई सम्बन्ध ा नहीं होता। बौद्ध धर्म का अवज्ञान होने के बाद सिद्ध योगियों का सहजीय सम्प्रदाय प्रकाश में आया इसलिए बाउल गीतों में आत्मसिद्धियों की अवस्थाओं तथा क्रियाओं का वर्णन है। वैसे तो बाउल संगीत समस्त बंगाल में अत्यंत लोकप्रिय लोक संगीत विद्या है। बाउल गीतों की प्रस्तुति लय-ताल तथा वाद्य सभी लोक शैलियों को प्रतिबिम्बित करती है। बाउल संगीत नृत्य प्रधान नहीं होता है बल्कि काव्य के माध

शोधछात्र, वाद्ययंत्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

यम से लय और ताल के सहारे शारीरिक संचालन द्वारा गीत की अभिव्यक्ति मात्र इसका लक्ष्य रहता है। इनके एक हाथ में गोपी यन्त्र या खमक रहता है, कमर पर बाया बाँधा रहता है तथा पैरो में घुघरू रहते है। उनकी वेशभूषा रंगीन साफा या ढीला अंगरखा या बाना जैसा होता है। तार सप्तक के स्वरों द्वारा बाउल संगीत का पूरा प्रभाव निखर उठता है। अधिकांश बाउल गीत दादरा तथा कहरवा में तालबद्ध होते है। इन गीतों में कोई कृत्रिमता नहीं होती है तथा अकृत्रिमता ही इन गीतों की विशेषता है।[2]

बाउल के स्वरों को गुरूदेव ने अपने कई गीतों में अपनाया। बाउल के शब्द व सुर अनायास ही कवि के मन में घुल गये थे। गुरूदेव ने विविध भावनाओं के गीतों में बाउल धुन का प्रयोग करके एक ओर इसके व्याप्ति को प्रसारित किया तथा दूसरी ओर इसके माध्यम से एक नई संगीत धारा की सृष्टि की जिसमें रवीन्द्र संगीत के प्रतिभा की मौलिकता का परिचय मिलता है।

बाउल के बारे में रवीन्द्रनाथ ने कहा है- "भाषा की सरलता में, भावों की गंभीरता में, सुरों के दर्द में, यह अतुलनीय है। इसमें गूढ़ ज्ञानत्व तथा काव्य रचना व भक्ति रस समान रूप से विद्यमान है। लोक साहित्य में ऐसी अपूर्व समन्वयता शायद ही कहीं है।"[3]

रवीन्द्रनाथ के बाउलांग गीतों में भैरवी, पीलू आदि राग-रागनियों के मिश्रण का आभास बीच-बीच में होने पर भी बाउलों के मूल आदर्श उनमें पूर्ण रूप से विद्यमान है। बाउल संगीत साधना रवीन्द्रनाथ को संगीत रचना में तो अनुप्राणित किया ही था बल्कि रवीन्द्र दर्शन को भी प्रभावित किया। जीवन के अंतिम दिनों में रवीन्द्रनाथ ने अनेक बाउल गीतों की रचना की जो कि रवीन्द्रिक बाउल गीतों के रूप में प्रकाश में आया।

बंगाल के बाउल लोक संगीत विधा से प्रभावित कुछ वैशिष्ट पूर्ण रवीन्द्र संगीत की सूची-

1. आमार नाइ बा होलो आजो आ आसा। 4
2. आमार मोनेर मानुष प्राणे आछे। 4
3. आमि तरवोन छिलेम अन्धो। 4
4. आमि तरवोन छिलेम मशोन। 4
5. आमि पथे-पथे पायार छड़ाने। 4
6. डाकव ना डाकवन-स्वर विताने।
7. हृदयेर ए कूल ओ कूल- स्वर
8. पागला हाओयार बादल दिने

भटियाली गीत और रवीन्द्र संगीत में प्रभाव

भटियाली का अर्थ है - भाटा जो प्रवाह में देखा जाता है। सम्भवतः इसी से भटियाली गीत ुन का जन्म हुआ। यह नाविकों (मल्लाहों) का ान धुन है जिसे वे नदियों को पार करते समय है। इसको एक अकेला व्यक्ति ही गाता है सुनता भी अकेला वहीं है। इसके साथ कोई नहीं बजता है तथा इसमें लय का कोई बंधन होता है। खेतों के किसान तथा संध्या के समय लौटते चरवाहे भी इसका प्रयोग करते है। भटिय बंगाल के अनेक प्रकार के लोक गीतों का मूल है श्रम से अधिक सम्बन्ध रखता है। ताल प्रधान होने पर भी स्वरों का दीर्घ लगाव मानव के अंतर को झकझोर देता है।[5]

यह पुरूष प्रधान लोकधुन है जो बिलावल थाट पर आधारित है। कोई-कोई धुन खमाज थाट से सम्ब ा रखती है। मध्य सप्तक और तार सप्तक में विचर पहाड़ी तथा झिंझोटी के स्वर भी दिखाई पड़ते इसलिए इसका ढांचा किसी एक राग में निबद्ध नहीं रहता है बल्कि भटियाली की धुन अपना अलग अस्तित्व रखती है। पूर्वी बंगाल में मेंघना या सुर नदी ही भटियाली का उद्गम स्थान है।

रवीन्द्रनाथ ने हर छोटी से छोटी वस्तु से प्रेरणा ली बाद में यही उनकी रचना का आकर्षण बने चाहे वह सड़क पर घूमते भिखारी का गीत हो उड़ती चिड़िया का कलरव, चाहे वह मल्लाहों की पुकार हो या किसी दूर-दराज से आती लोगों की आवाज हो उनके संवेदनशील कानों से व बिखरे उदार गूढ़ हृदय से कोई ध्वनि अनसुनी न रह सकी हर ध्वनि गुरूदेव के लिए नवीन मर्म स्पर्शी संगीत की प्रेरणा लेकर आती थी। उसी प्रकार भटियाली लोकगीतों से भी रवीन्द्रनाथ बहुत प्रभावित थे तथा उनकी कई धुनों में भटियाली धुन का प्रभाव पड़ा है।

भटियाली धुन से प्रभावित रवीन्द्रनाथ की कुछ विशिष्टयपूर्ण रचनाएँ-

1. ग्रामछाड़ा ओड़ रागां माटिर पथ - स्वर वितान -1
2. तोमार खोला हाओया- स्वर वितान-43

सारि लोक धुन तथा रवीन्द्र संगीत पर उसका प्रभाव

सारिगान भटियाली से बिल्कुल विपरीत है। कर्मरत जीवन का यह एक अंग है इसलिए इसे कर्म संगीत या श्रम संगीत कहते है। यह अधि कतर पूर्वी बंगाल में गाया जाता है। इसमें ताल की प्रधानता होती है। दोनों ही लोकगीत मल्लाहों के गीत है लेकिन दोनों में अन्तर है। भटियाली मध्य या विलम्बित लय में गाया जाता है तथा ताल व लय रहित भी होता है। सारिगान लय मे निबद्ध गीत है तथा द्रुतगति से गाया जाता है। भटियाली एक व्यक्ति के द्वारा तथा सारिगान मल्लाहों के समूहों द्वारा गाया जाने वाला गीत है। मल्लाह लोग एक साथ नाव चलाते-चलाते उसी लय में इसे गाते है। इनके गीत राधाकृष्ण, राम-सीता तथा हरि पार्वती इसी प्रकार के कथानक पर आधारित होते है। सांगीतिक भाषा में हम भटियाली को आलाप तथा सारिगत को लययुक्त तान की उपमा दे सकते है।

रवीन्द्रनाथ को सारिगान की ओर विशेष झुकाव था अतः उनके गीतों में सारिगान की छाया मिलती है।

सारिगान से प्रभावित रवीन्द्रिक संगीत की कुछ रचनाएँ-

1. खर वायु वय बेगे- स्वर वितान-3,12
2. एबार तोर मरा गागे- स्वर वितान - 46

बाउल तथा सारिगान के मिश्रित धुन में रवीन्द्रनाथ जी की कुछ रचनाएँ-

1. आमि कान पेते रोई- स्वर वितान -15
2. नित्य तोमार जे फुल फोरे-स्वर वितान -41
3. आमार मन जखन जाग लिनारे-स्वरवितान -44

रामप्रसादी संगीत तथा रवीन्द्र संगीत में उसका प्रभाव

भक्त राम प्रसाद माँ काली के भक्त थे। उनके गीत भक्तिरस से भरपूर है। उन्होंने जो गत बनाये थे या तो रागों में निबद्ध है या लोकगीतों से प्रभावित है। इन धुनों का विशेष आकर्षण तथा पहचान है जो लोगों पर आसानी से छा जाता है। रवीन्द्रनाथ भी रामप्रसादी गीत व धुन से प्रभावित थे। उन्होंने इस धुन में कई रचनाएँ भी की है जो कि निम्नवत है।

1. श्यामा ऐबार छेड़े चलेछि माँ-स्वर वितान -49
2. आमर मिलेछि आज - स्वर वितान -47
3. आमिड़ शुधु रइनु बाकि - स्वर वितान -8
4. देखब के तोर काछे आसे - स्वर वितान - 56
5. प्रिये तोमार दैकि होले - स्वर वितान - 20

रवीन्द्र संगीत के प्रमुख वाद्ययंत्र

रवीन्द्र संगीत के गीतों में सर्वाधिक तत् वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। इसराज की संगत के साथ रवीन्द्र संगीत गायन की परिपाटी सर्वप्रमुख है। धुपदांग के रवीन्द्र संगीतों के साथ पखावज संगत वाद्य के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त बंगाल के लोक संगीत पर आधारित भटियाली बाउल-कीर्तन आदि अंग के रवीन्द्र संगीत में खोल वाद्य संगत वाद्य के रूप में बजाया जाता है। भटियाली सारिगान अंग के गीतों में एकतारा और गोपीयंत्र भी प्रयुक्त किया जाता है। घनवाद्यों में मदिरा और नुपुर भी प्रयुक्त होते है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गुप्ता डॉ0 लिपिका दास, बंगाल के नव जागरण का संगीत, पृ0सं0 89
2. बोस लिपिका, बंगाल के नव जागरण के संदर्भ में संगीत चर्चा (शोध प्रबन्ध)
3. बिसोई सोनाली, उत्तर भारतीय संगीत एवं रवीन्द्र संगीत का तुलनात्मक अध्ययन तथा रवीन्द्र संगीत की विशेषताएँ (शोध प्रबन्ध)
4. गुप्ता डॉ0 लिपिका दास, बंगाल के नव जागरण का संगीत, पृ0सं0 89, 90
5. बिसोई सोनाली, उत्तर भारतीय संगीत एवं रवीन्द्र संगीत का तुलनात्मक अध्ययन तथा रवीन्द्र संगीत की विशेषताएँ (शोध प्रबन्ध)
6. गुप्ता डॉ0 लिपिका दास, बंगाल के नव जागरण का संगीत, पृ0सं0 90

कला, ललित कला व संगीत

शिखा भृगुवंशी

कला शब्द की उत्पत्ति ''कल'' धातु से हुई है जिसका अर्थ है उत्पन्न करना या कुछ नवीन रचना करना। भारतीय कला-दर्शन के अनुसार कला धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-इन चारों पुरूषार्थों की सिद्धि का साधन है। अभिप्राय यह है कि यदि कला - सामान्य स्तर पर धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि कराती है तो उच्चतम स्तर पर यह आत्मिक अमृत्व अथार्त् मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकती है।

गोथे के अनुसार - ''कला आत्मा का जादू है।''

करालाइल के अनुसार, ''कला सच्चाई से मुक्त आत्मा है।''

वागनर के अनुसार, ''कला मनुष्य के सामाजिक जीवन का उत्कृष्टतम प्रकाशन है।''

प्लेटो के अनुसार, ''कला सत्य की अनुकृति है।''

अरस्तु के अनुसार, ''कला प्रकृति है और इसमें कल्पना भी है।''

कला के तत्व-

किसी कार्य को कला की श्रेणी में रखने हेतु, उसमें कुछ तत्वों का होना जरूरी होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार कला के तत्व है-

आकार : संगीत, चित्र, मूर्ति आदि चाहे कला हो उसकी कृति का एक निश्चित रूप व आकार होना चाहिए। देखते ही स्पष्ट हो जाए कि वह कलाकृति है।

प्रमाण : रूप आकार के सभी घटकों व आयामों में प्रमाण का होना आवश्यक है अर्थात् कलाकार की बनी कृति के हर पहलू में सामंजस्य होना चाहिए यदि कृति मानव की है तो उसके अंगों में अनुपात सही होना चाहिए। अतः कला में प्रमाण का होना भी जरूरी है।

भाव : भाव कला अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। अतः जब कलाकार कोई कृति बनाता है और वह जो भी भाव डालना चाहता है वह कृति को देखते ही स्पष्ट हो जाने चाहिए।

लावण्य : यह कला का प्रमुख तत्व है। रूप, प्रमाण द्वारा कृति में लावण्य पैदा किया जाता है। जैसे हम किसी कृति को देखते ही कह उठते है वाह-वाह क्या कला है यही लावण्य है, यही सुन्दरता है जिसका कला में होना आवश्यक है।

उपमा : कला में सौन्दर्य पैदा करने का विशेष माध्यम उपमा है। काव्य में उपमा प्राणस्वरूप कार्य करती है : यथा - चन्द्रवदना, कमलनयना आदि।

उपरोक्त तत्वों के साथ किसी कला में इन तत्वों का होना जरूरी है-

विचार : किसी कलाकार में विचारशीलता का होना आवश्यक है जब एक उसे यह ही विचारणीय न होगा कि उसे क्या बनाना है तो वह क्या बना सकता है।

ध्यान : कला में ध्यान का होना आवश्यक है, जब तक कोई एकाग्रचित होकर ध्यान लगाकर काम न करेगा तो हो सकता है कि उसकी कृति खण्डित

शोध छात्र, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हो जाए इसलिए कलाकार को कला में डूबा हुआ पाया जाता है।

कल्पना : कला के लिए कल्पना का होना आवश्यक है, इसी के द्वारा कलाकार अपनी कला को नये आयाम तक नवीन रूप समय-समय पर देता रहता है।

आध्यात्मिकता : प्राचीन समय से भारतीय जीवन आध्यात्म से जुड़ा हुआ है कला का अन्तिम उद्देश्य आध्यात्मिकता होना चाहिए। किसी कला में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह श्रोता को आध्यात्म के मार्ग तक ले जाए।

प्रकृति : कला में वास्तविकता लाने के लिए प्रकृति का निर्वाह जरूरी है। आध्यात्म से जुड़ा होने पर भी कलाकार प्रकृति का सहारा लेता है, इसलिए वह अपनी कला को प्राकृतिक उपमाएं देता हैं किसी कला में, कल्पना चाहे कितनी हो, पर प्रकृति की अवहेलना नहीं की जा सकती।

प्रतीक : हर कला में प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। भारतीय कला में किसी-न-किसी रूप में प्रतीकों का अंकन किया जाता है इससे देवी देवता भी वंचित नहीं रहे। गणेश को ज्ञान का, लक्ष्मी को धन का प्रतीक माना जाता है। संगीत में रागों के प्रतीक राग ध्यान व राग चित्र प्राप्त होते है।

ललित कलाएं

संस्कृत साहित्य में पांच ललित कलाओं का उल्लेख मिलता है- वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला, काव्यकला और संगीतकला। ललित कलाओं में सौन्दर्य व आकर्षण निहित होने के साथ-साथ विशिष्ट मानसिक तृप्ति की योजना निहित होती है, यह मनुष्य के सौन्दर्य बोध की विकसित अवस्था का बोध कराती है। कला का प्रमुख लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। अतः आनन्द का माध्यम जितना सूक्ष्म होगा। आनन्द का स्वर उतना ही ऊँचा होगा। ललित कलाओं की श्रेणी में जिस कला में उपकरणों की संख्या अल्पतम होती है। वह सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस श्रेणी में निम्नतम स्तर वास्तुकला को प्राप्त है। वास्तुकला के अन्तर्गत भवन निर्माण सम्बन्धी कार्य आता है जिसके अन्तर्गत ईंट, पत्थर, चूना जैसे उपकरणों की आवश्यकता होती है। उपकरणों की अधिकता व मूर्त होने के कारण कलाकार की कल्पना की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति इस कला के द्वारा नहीं हो पाती। साथ ही किसी भवन का निर्माण किसी एक व्यक्ति द्वारा होना सम्भव नहीं है। अनेक व्यक्तियों का श्रम व विचारों का मेल होने के कारण वास्तुकला किसी निश्चित कलागत भाव को प्रकट करने में प्रायः सक्षम नहीं हो पाती। इसके पश्चात् मूर्तिकला का स्थान आता है। पत्थर या काष्ठ आदि से निर्मित आकृति निर्माण में उपकरणों की संख्या वास्तुकला से कम होती है। मूर्तिकार मूर्ति के द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है परन्तु कभी-कभी सूक्ष्मतम भावों की अभिव्यक्ति में यह कला असक्षम हो जाती है।

चित्रकला में कलाकार लौकिक सौन्दर्य को तालिका के माध्यम से कागज, रंग आदि की सहायता से अभिव्यक्ति देता है। इस कला में प्रयुक्त उपकरण अन्य दोनों कलाओं की अपेक्षा कम होते हैं, लौकिक जगत की असुन्दर वस्तुओं को भी चित्रकार सुन्दर बनाकर प्रस्तुत कर देता है। अतः कहा जा सकता है कि चित्रकला का सौन्दर्य वस्तु में नहीं अपितु वस्तु के चित्रण में है। काव्य कला में अन्य उपकरणों का सहारा छोड़कर केवल शब्दों के माध्यम से रचना प्रस्तुत की जाती है। अतः काव्य कला उपरोक्त तीनों कलाओं से श्रेष्ठ हो जाती है। कवि के मनोभाव व विचारधारा व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण कर जनसाधारण के मनोभावों से एकाकार हो जाते हैं। कविता में जगत के मूर्त व अमूर्त दोनों विषयों को लेकर सृष्टि की जाती है इसलिए उत्तम कोटि की रचनाओं में मानव मन की अनुभूतियों की मनोरम अभिव्यक्ति मिलती है। संगीत कला में संगीतज्ञ अपने मनोगत भावों को स्वर, लय और ताल के द्वारा अभिव्यक्त करता है। कला के स्वरूप निर्धारण में कला का माध्यम महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस आधार पर संगीत का स्थान सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। संगीत में शब्द का आश्रय लिये बिना ही मात्र ध्वनि के आधार पर रचना कर ली जाती है। वाद्य द्वारा उत्पन्न ध्वनि या आलाप की अभिव्यक्ति केवल आकार द्वारा ही कर ली जाती है। अतः माध्यम की सूक्ष्मता का उत्तम उदाहरण संगीत जैसी ललित कला में ही प्रस्तुत हो पाता है।

महाकाव्य काल में वाद्यों का विकास

अनुराधा सिंह

प्राचीन ग्रंथों के अनुसार महाकाव्य काल हमें पौराणिक युग के उपरांत मिलता है। इसी काल में प्रसिद्ध हिन्दू महाकाव्य रामायण एवं महाभारत की रचना हुई। यह काल संगीत के विकास की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय संगीत के इतिहास की संरचना में रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों का काफी उल्लेखनीय योगदान रहा है। महाकाव्य काल में संगीत के तीनों प्रमुख तत्वों (गायन, वादन एवं नृत्य) का उत्कृष्ट स्वरूप देखने को मिलता है, परन्तु वाद्यों की परम्परा का जो विकसित रूप इस काल में मिलता है वो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस समय भी वाद्य के चार प्रकार ही मुख्यतः प्रचार में थे, तत्, धन, अवनद्ध एवं सुषिर। इस काल में कई नए वाद्यों का आविष्कार हुआ तथा कई प्राचीन वाद्य भी प्रचलित हुए।

ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व वाल्मीकि ऋषि ने रामायण को लिखा था। रामायण की रचना उत्तर वैदिक काल की एक महत्वपूर्ण देन है। इसमें संगीत की महान पवित्रता के दर्शन होते हैं। वाल्मीकि के अनुसार रामायण की रचना गेय काव्य के रूप में हुई है। पद ताल एवं वाद्यों की जैसी व्याख्या 'नाट्यशास्त्र' में की गई है वैसा ही विकसित रूप रामायण में भी प्राप्त होता है। इस बात की पुष्टि आचार्य बृहस्पति ने 'भरत के संगीत सिद्धांत' में की है। रामायण में किसी भी विशेष अवसर पर संगीत का आयोजन अवश्य किया जाता था, जिनमें गायन एवं विभिन्न प्रकार के वाद्यों का वादन प्रस्तुत किया जाता था। कहा जाता है कि भगवान राम के जन्म के अवसर पर गाधर्वों ने गायन प्रस्तुत किया एवं देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजाकर उनका अभिनंदन किया था। राम और सीता के विवाह के अवसर पर भी इसी प्रकार संगीत का आयोजन किया गया था। रामायण काल में संगीत का सेवन मनोरंजन का सर्वाधिक प्रमुख साधन था, समाज में संगीत सर्वत्र परिव्याप्त दिखाई देता था। अयोध्या, किष्किन्धा तथा लंका आदि नगर सदैव वाद्यों की सुमधुर ध्वनि से निनादित रहते थे।

रामायण काल में तत् वाद्यों के लिए वीणा सामान्य संज्ञा थी, तंत्रियों की संख्या तथा बनावट के आधार पर इनके कई प्रकार विकसित हुए, जिनमें विपंची, शततंत्री, पिन्छोला, वल्लकी आदि वीणाएँ मुख्य रूप से प्रचलित हुई। विपंची वीणा का प्रयोग जहाँ नृत्य के साथ संगत देने के लिए किया जाता था, वहीं वल्लकी वीणा प्रायः अन्तःपुर की राज स्त्रियों द्वारा बजाई जाती थी। इसे बजाने के लिए दण्ड का प्रयोग किया जाता जिसके लिए 'कोण' संज्ञा थी। अवनद्ध वाद्य के अन्तर्गत दुन्दुभि एवं मृदंग सबसे प्रचलित वाद्य थे। इनके अतिरिक्त जिन अवनद्ध वाद्यों का प्रचार उस समय था वे हैं- पणव, गोमुख, पटह, भेरी, पुष्कर, आलिंग्य तथा घट। भेरी एवं पटह जैसे वाद्यों का प्रयोग युद्ध की घोषणा के लिए किया जाता था। हनुमान को दंडित किए जाने की उद्घोषणा भी राक्षसों ने शंख और भेरी बजाकर की थी। घन वाद्यों के अन्तर्गत घंटा, करताल, डिमडिम आदि वाद्य प्रचार में थे, जिसका

शोध-छात्र, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति.मां. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

प्रयोग मुख्य रूप से पूजा-पाठ में किया जाता था। सुषिर वाद्यों में शंख और वेणु ही ज्यादा प्रचलित हुए। किसी भी शुभ कार्यों का प्रारम्भ शंख फूँककर ही किया जाता था। इस काल तक विभिन्न वाद्यों का सामूहिक वादन किया जाने लगा था। वाद्य-वृन्द के लिए 'तूर्य' संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। रामायण में इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि रावण की अन्त्येष्टि के समय तूर्यों के निर्घोष के साथ सुतिगान किया गया था। इस प्रकार रामायण के प्रत्येक अध्याय से भिन्न-भिन्न वाद्यों के महत्त्व को दर्शाया गया है।

महाभारत की रचना का काल रामायण से 100 वर्ष पश्चात् अर्थात् 300 ई0 पूर्व माना जाता है। इसके रचयिता महर्षि वेदव्यास थे। इस महाकाव्य में भी संगीत के तीनों तत्वों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। वाद्य के अन्तर्गत चार प्रकार के वाद्यों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। तत् वाद्य के अन्तर्गत वीणा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वीणा के कुछ प्रकारों का उल्लेख महाभारत में किया गया है। जिनमें विपंची वीणा सबसे प्रचलित वीणा थी, जिसका स्वर अत्यंत मधुर होता था। राज्य में बजने वाले मंगलसूचक वाद्यों के अन्तर्गत वीणा को भी रखा गया था। यज्ञस्थल पर नृत्य की संगत के साथ वीणा वादन का उल्लेख प्राप्त होता है। वीणा का वादन अन्य अवसरों पर भी मृदंगादि के साथ होता था। द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर वेणु आदि वाद्यों के साथ वीणा की ध्वनि भी गूंज रही थी। नारद भी वीणा वादन करते थे। इनकी वीणा का नाम कच्छपी वीणा था। इस वीणा का संभवतः एक सिरा कच्छप के आकार का होता था, जैसा इसके नाम से स्पष्ट है। इस प्रकार के आकार को आज भी प्रचार में देखा जा सकता है। वीणा के स्वरूप पर महाभारत में अल्प-सा प्रकाश डाला गया है। इसकी तुलना धनुष से की गई है। जिस प्रकार धनुष में डोरी लगाने के दो भाग होते हैं, उसी प्रकार वीणा में तंत्री के लिए दो खूँटियाँ होती है। धनुष की डोरी वीणा की तंत्री के समान है तथा जिस प्रकार धनुष में लकड़ी होती है उसी प्रकार वीणा में कद्दूयुक्त दाडी होती है। उस काल में वीणा सबसे प्रतिष्ठित वाद्य माना जाता था। मनु ने तो यहाँ तक कहा था कि वीणा इत्यादि घर में रखने का प्रयोजन देव, ब्राह्मण एवं अतिथियों की पूजा ही है। व्रतधारी पुरुष वीणा के मधुर स्वरों से ही जागते थे। स्वयं अर्जुन भी एक प्रखर वीणा वादक थे, जिनकी वीणा की ध्वनि सुनकर लोग मंत्रमुग्ध हो जाया करते थे।

अवनद्ध वाद्य के अन्तर्गत महाभारत में निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख मिलता है- दुन्दुभि, मृदंग, आनक, मुरज, पणव, पुष्कर, पटह, आडम्बर, नन्दिवाद्य, तोमर तथा भेरी। उक्त वाद्यों के स्वरूप के विषय में विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होते। इन वाद्यों का उपयोग युद्ध, घोषणा के अवसर पर बहुतायत से होता था। इसके अतिरिक्त संगीत संबंधी उपयोग तो स्पष्ट ही था। इनका गायन, नर्त्तन के साथ संगत के रूप में तथा स्वतंत्र वादन भी होता था। अर्जुन के बारे में कहा गया है कि वह वीणा वादन के साथ-साथ मृदंग बजाने में भी निपुण थे।

सुषिर वाद्यों में वेणु, बाँसुरी, क्रकच, शंख, गोविपणिक, किलकिला आदि वाद्यों का उल्लेख बहुतायत से मिलता है। उक्त वाद्यों में क्रकच एवं किलकिला का प्रथम बार महाभारत में भी उल्लेख मिलता है। किलकिला नामक वाद्य का आज भी आदिवासियों में प्रचार देखा जा सकता है। क्रकच एक ऐसा वाद्य था जिसका रणसंबंधी उपयोग ही अधिक प्रचलित था। अन्य वाद्यों का युद्ध एवं संगीत संबंधी दोनों प्रकार से प्रयोग होता था। बाँसुरी जैसे सुषिर वाद्य को लोकप्रिय बनाने का श्रेय भगवान श्रीकृष्ण को ही जाता है। उन्हें इस संसार का सर्वश्रेष्ठ बाँसुरी वादक माना गया है, जिनकी बाँसुरी की धुन सुनकर गोपियाँ अपना सुध-बुध खो बैठती थीं।

घनवर्ग के अन्तर्गत निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख किया गया है- झर्झर, स्वस्तिक, करताल इत्यादि। हाथ से ताल देने का भी उल्लेख 'पाणि स्वर' के रूप में मिलता है। झर्झर स्पष्ट ही झाझ का द्योतक है। यह धातु का वृहद् आकार का मजीरेनुमा वाद्य होता

था, जिसका प्रमुख उपयोग सेना में होता था। स्वस्तिक एवं करताल भी इसी प्रकार के वाद्य थे, किन्तु वे बड़े आकार के नहीं होते थे। उक्त वाद्यों का उपयोग लय के लिए किया जाता था, हाथ से ताल देने वालों का भी वादकों में एक वर्ग था। ताल की सशब्द एवं निःशब्द क्रियाएँ होती थीं, जो हाथ से दिखाई जाती थी। शम्या एवं ताल ऐसी ही सशब्द क्रियाओं का द्योतक थी। ताल एक धनवाद्य का भी नाम था, जो अत्यधिक प्रचार में था। नृत्य की संगत में इसका प्रयोग बहुतायत से होता था। रामायण की ही तरह महाभारत में भी वाद्यों के सामूहिक वादन के लिए 'तूर्य' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार दोनों ही महाकाव्यों का अवलोकन करने पर यह बात स्पष्ट होती है कि भारतीय वाद्यों के विकास एवं प्रचार-प्रसार में महाकाव्य काल का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

संदर्भ सूची

1.देव वी.सी., म्युजिक इंस्ट्रूमेंट ऑफ इडिया
2.शर्मा भगवतशरण, भारतीय संगीत का इतिहास
3.गर्ग लक्ष्मीनारायण, निबंध संगीत

संगीत का अंतर अनुशासनात्मक संबंध

राकेश कुमार

संगीत एक कला है और इसका शास्त्र संगीत शास्त्र है। संगीत कला स्वयंभू कला है। इस कला के प्रायोगिक और शास्त्र पक्ष के विविध आयाम है। यह सर्वजन विदित है कि गायन, वादन, नृत्य को संगीत कहने की परिपाटी हमारे शास्त्रों ने दिया और सामाजिक धरा पर यह सर्वमान्य है। पुनः गान में कई आयाम जैसे प्रबंध की दृष्टि भेद से ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा, नानाविध लोक संगीत प्रादेशिक प्रान्तीय विविध गीत सभी समाहित है। वादन में भी तत, अवनद्ध, घन, सुपिर, चार प्रकार के वाद्य पुनः उसकी विभिन्न प्रयोग के आधार पर विनिर्मित वाद्य, नृत्य के प्रान्त के आधार पर प्रान्तीय लोक नृत्य और साथ ही भरतनाट्यम, मणिपुरी, कुचीपुड़ी, ओडिसी, कत्थक, कथकली आदि विविध शास्त्रीय नृत्य उक्त सभी अनुशासन संगीत के प्रयोगिक पक्ष के लक्ष्य स्वरूप है तथा स्वभाविक रूप से इन सभी के शास्त्र विषयक लिखित प्राप्य संगीत शास्त्र ग्रंथ है और जिसकी एक लंबी परंपरा वैदिक युग से आज तक युग धर्म के प्रभाव से प्रवाहित होता हुआ अपने स्वरूप में विद्यमान है।

संगीत शास्त्र शब्द संगीत के शास्त्र ग्रंथों में निरूपित विभिन्न सांगीतिक पक्षों का स्पष्टीकरण करता है।

मानव शरीर को एक पिण्ड के रूप में उत्पन्न होने की प्रक्रिया से शरीर के विविध अंगों के साथ संगीत की व्यवहारिक उपयोगिता के आधार को संगीत शास्त्र के स्तम्भ ग्रंथ संगीत रत्नाकर में विधिवत निरूपित किया गया है। ऐसा माना जाता है। शारंगदेव स्वयं आयुर्वेद के विशेषज्ञ, ज्ञात , चिकित्सक थे। संभवतः इसलिए भी इन्होंने सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में मानव शरीर की महत्वपूर्ण पहलुओं को रेखांकित करना आवश्यक समझा और संगीत रत्नाकर ग्रंथ में सर्वप्रथम पिण्डोत्पत्ति प्रकरण में शरीर या पिण्ड की सांगीतिक विविध संदर्भों का विवरण दिया है।

शारंगदेव से पूर्व मतंग मुनि और दत्तिल कृत बृहद्देशी और दत्तिलम में भी देह तत्व से संगीत का संबंध स्वीकार किया गया है। शारंगदेव के समसामयिक सुप्रसिद्ध ग्रंथकार शारदातनय के ग्रंथ भावप्रकाश तत्पश्चात् पार्श्वदेवकृत संगीतसमयसार, सुधाकलश कृत संगीतोपनिषदसारोद्धार आदि ग्रंथों में संगीत के साथ शरीर के विज्ञान को सहसम्बंध विविध प्रसंगानुसार उपलब्ध है।

प्रसंगतः उल्लेखनीय है कि शारंगदेव के संगीतरत्नाकर में शरीर रचना विज्ञान की आयुर्वेदिक व्याख्या करने के उपरांत विविध चक्र और कुछ चक्रों के दलों को स्पष्ट किया। उन्होंने नाद की उत्पति ब्रह्मग्रंथि से होने की व्यवहारिकता को बताया। नाद को गीत की आत्मा बताते हुए आहत अनाहत नाद की व्याख्या प्रस्तुत किया। नाद शब्द में 'ना' वायु और 'द' अग्नि तत्व का द्योतक है। जब आत्मा की इच्छा होती है तो यह चित्त को उत्प्रेरित करती है और यह ब्रह्मग्रंथी में स्थित अग्नि को उत्प्रेरित करती है और अग्नि वायु के शरीर के माध्यम से उर्ध्व दिशा में उठने को प्रवृत्त करती है। इस प्रक्रिया में ब्रह्मग्रंथी को छोड़ने से पहले सक्रिय वायु नाभि में पहुंचती है, जहां नाद अतिसूक्ष्म अवस्था में रहता है। जब यह हृदय तक पहुंचती है तो नाद सूक्ष्म अवस्था में रहती है। कंठस्थल तक पहुंचने तक नाद पुष्ट होती हैं और सक्रिय वायु मस्तिष्क तक पहुंचने पर

सह आचार्य, विभाग संगीत एवं नाट्य विभाग, ल०ना०मि०वि०वि०, दरभंगा

नाद अपुष्ट होती है और अंततः मुख से यह कृत्रिम रूप से निकलती है।

पुनः सांगीतिक ध्वनि को देह से उत्पन्न होने के तीन स्थान शारंगदेव ने स्पष्ट किया, मन्द्र, मध्य, तार। हृदय परिक्षेत्र से उत्पन्न मन्द्र कण्ठ परिक्षेत्र से उत्पन्न मध्य और मस्तिष्क परिक्षेत्र से तारस्थानन या सप्तक की अवधारणा बताया। 22 श्रुतियों की 22 प्रकार की नादों उत्पत्ति सक्रिय वायु का 22 क्षितिज की दिशा में नाड़ियों के उर्ध्वाधर नाड़ियों के सहसम्बन्ध और प्रत्येक स्थान में अवस्थित बताया। संदर्भतः उल्लेखनीय दत्तिल, मतंग, अभिनवगुप्त आदि की भी नाड़ियों का श्रुतियों से सम्बन्ध स्थापित करने की परंपरा संबंधित आचार्यों के ग्रंथों में प्रमाण स्वरूप है।

देह स्थित सभी नाड़ियों में से तीन नाड़ियों श्रेष्ठ है और उनमें भी सुषुम्ना श्रेष्ठतम है। सुषुम्ना को वैष्णवी भी कहते हैं। सुषुम्ना के बाईं ओर इड़ा ओर दाई ओर पिंगला नाड़ी है। इन दोनों में संचार करने वाले प्राण वायु को विशेष संज्ञा दी गई है। इड़ा में संचार करने वाले प्राण वायु को चन्द्र और पिंगला में संचार करने वाले प्राण वायु को सूर्य की संज्ञा दी गई है। चन्द्र और सूर्य से काल का ज्ञान होता है। संगीत में गायक का प्राण ही स्वर के रूप में प्रकट होता है। अतः काल के माध्यम से जो भी वैविध्य और सौन्दर्य सर्जन किया जाता है उसमें अवश्य ही इन नाड़ियों का योगदान रहता होगा। यही कारण है सभी गायकों की लय यानि श्वास और उच्छवास के बीच विश्रान्ति एक सी नहीं हुआ करती है। गायन में तो मात्र यह नाड़ियां सहायक होती है। वादन में नाड़ियों के अतिरिक्त मांसपेशियों का सहयोग भी अनिवार्य होता है। इसलिए गान्धर्व में शारीर स्वर को प्रधानता दी गई है।

शरीर स्थित प्रसिद्ध नाड़ियों की संज्ञाएं इस प्रकार है। नाभि केन्द्र के मध्य भाग में सुषुम्ना उसके चारों ओर 72 हजार नाड़िया है जिनमें 14 प्रधान है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, पुषा, वारूणि, हस्तजिह्वा, यशस्वनि, अलम्बुसा, कुहु, विश्वोदरा, पयस्यिनि, संख्यनि, गान्धारा। सुषुम्ना का दूसरा नाम राका भी है। अलम्बुसा नाड़ी नाभी कन्द के मध्य भाग से होती हुई गुदा चक्र तक फैली है। कुहु की स्थिति दक्षिण नाशापुट तक मानी गई है। इड़ा बांई नासापुट तक स्थित है। पुषा और पिंगला के पृष्टभाग से होते हुए दक्षिण नेत्र तक फैली हुई बताई गई है। सरस्वती नाड़ी उपर की ओर जिह्वा तक फैली हुई बताई गई है। संख्यनि नाड़ी वामकरण तक फैली हुई है। गान्धारा की स्थिति वेदान्तज्ञों के द्वारा वाम नेत्र तक बताई गई है। विश्वोदरा नाम की नाड़ी नाभी केन्द्र के मध्य में स्थित है।

संगीत शास्त्र में प्रबंध को पुरूष रूप में मानकर प्रबंध पुरूष के विविध अंगों को बताया गया है। नृत्य में विविध अंगों के संचालन मुद्रा चारि आदि के संदर्भ में मानव देह का संगीत से अंगांगी संबंध स्वतः सिद्ध हो जाता है।

संगीत की उत्पति का मूल गीत या गान है। प्राकृतिक धरा पर पक्षियों का कलरव प्राकृतिक विभिन्न पदार्थों का घर्षण, प्रवाहन, आदि विविध शब्द और मानवीय धरा पर गायन या गीत का मूल उपादान या उद्गम स्थल कण्ठ है। साथ ही यदि कान या श्रवण यंत्र और सुनने की क्रिया न हो तो कुछ भी सुन न सकने के कारण संगीत का अभिव्यक्ति या अभिधान हो नहीं सकता। अतः श्रवण यंत्र और श्रवण प्रक्रिया का भलीभांति ज्ञान ध्वनि विज्ञान के माध्यम से संगीतशास्त्र के अध्ययन का एक अहम अंग है।

संगीत और इतिहास के संदर्भ में

धर्मार्थिकाममोक्षाणां मुपदेशसमन्वितम्
पूर्ववृत्तं कथायुक्त इतिहास/प्रचक्षते।

अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के उपदेश से युक्त पूर्व घटित घटनाओं का कथायुक्त रूप ही इतिहास है। History शब्द ग्रीक शब्द से व्युत्पति हुई है। जिसका मुख्य अर्थ है Learning by Enquiry या Knowledge or information often by Enquiry. इतिहास का अर्थ है। उन घटनाओं का लिखित ब्यौरा जिसे संदर्भित विषय का तथ्य माना जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रमुख ऐतिहासिक स्रोत पुरातात्विक स्वरूप में अभिलेख, विविध कला, मिट्टी के बर्तन और सिक्कों में परिलक्षित है। भित्तिचित्र, स्तम्भ, मूर्तियां, मंदिर, खिलौने आदि

विभिन्न कलात्मक वस्तुओं से सभ्यता और संस्कृति का सहज ऑकलन किया जा सकता है एवं उल्लेखनीय है कि संगीत का इतिहास भी उक्त कलात्मक नमूनों से विवेचित किये जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त मुद्रायें मूर्ति चित्र आदि से प्राप्त विविध कालों के सांगीतिक साक्ष्य। कालानुक्रम से प्राप्त सभी ऐतिहासिक सांगीतिक ग्रंथ विविध ऐतिहासिक काल में विदेशों से आए यात्रियों के लिखित विवरण आदि है। अतः यह स्पष्ट होता है कि इतिहास के साथ संगीत का अभिन्न संबंध है।

संगीत शास्त्र के अध्ययन का मूल विषय वस्तु सांगीतिक उपादानों का अध्ययन और नानाविध उपलब्ध विभिन्न ग्रंथ से प्राप्य सांगीतिक साक्ष्यों का आकलन करना भी है। यह सर्वजन विदित है कि देश और काल की परिसीमा या वृत्त के अंतर्गत पार्थिव हर एक घटना या उपक्रम होता है। अतः विभिन्न ऐतिहासिक आवर्तनों में विश्व के विभिन्न प्रांतों में संगीत का क्या स्वरूप था या है यह जानना एक ऐतिहासिक अध्ययन की सीमा में है साथ ही किसी भी प्रांत का भौगोलिक प्रभाव वहां की संगीत या कला पर प्रतिबिम्बित होना सुनिश्चित है। उदाहरणार्थ शास्त्रीय संगीत में ध्रुपद की वाणियां, ख्याल गायकी में घराने, वादन परंपराओं में बाज या घराना, नृत्य में विविध प्रान्त की शैलियां आदि तत्संबंधित ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों अवस्थितियों को स्पष्ट करती है। साथ ही भारतीय संदर्भ में विभिन्न प्रादेशिक संगीत की विविधता भी संबंधित प्रदेश के लौकिक धार्मिक और सांस्कृतिक आचरण पर निर्भर है। अतः संगीतशास्त्र इतिहास विषय से अछूता नहीं है।

मानव की उत्पत्ति के साथ संगीत की उत्पत्ति हो चुकी थी। प्राचीन भारतीय संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी है। संगीतशास्त्र संबंधित लिखित तथ्य वैदिक साहित्य, सामवेद एवं सामवेद के शिक्षा ग्रंथ नारदीय शिक्षा में ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय है। स्मृति ग्रंथों में भी संगीत का विविध संदर्भ में उल्लेख उपलब्ध है। स्मृति के बाद जैन साहित्यों, बौद्ध जातक कथाओं तथा विविध बौद्ध धर्म ग्रंथों में संगीत का स्पष्ट उल्लेख है। त्रिपिटक में संगीत के लिए गान्धर्व, संगीत, शिल्प संज्ञाएं प्राप्त हुई है। गायन, वादन, नृत्य का भी एक साथ उल्लेख है। गाथा गायन का भी उल्लेख है। 'ललित विस्तर' में भी सांगीतिक वाद्ययंत्रों का विविध संदर्भों में उल्लेख मिलता है। अतः शिक्षा प्रतिशाख्य, पुराण, स्मृति, महाकाव्य आदि में सांगीतिक इतिहास सर्वथा लिखित रूप से प्राप्त है।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। यह जितना सत्य है इसलिए मानव निर्मित संगीत को संबंधित समाज ही प्रतिपालित करती है। भारतीय हिन्दू धर्म के 16 संस्कार का सामाजिक प्रतिपालन में संगीत अंगांगी रूप से युक्त है। इसके अतिरिक्त ईसाई, यहूदी, मुसलमान, हर धर्म में संगीत का उत्स सामाजिक क्रिया प्रतिक्रियाओं में है। पुनः विश्व के किसी भी प्रांत के इंसान का दूसरे प्रांत के इंसान से सहसंबंध संगीत के माध्यम से होता है। अतः संगीत को सार्वजनिक या सार्वभौमिक भाषा या अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम माना जाता है। अतः यह स्वभाविक है कि संगीतशास्त्री किसी भी दिशा या दशा में सामाजिक विधि नियम आचार-आचरण, रीति-रिवाज, व्रत, त्योहार, उत्सव हर एक पहलू की जानकारी रखें ताकि सांगीतिक शास्त्रगत अध्ययन युक्तिसंगत तर्कपूर्ण और संपूर्ण हो सके।

मानव विधाता की मौलिक रचना है और किसी भी प्रकार की कला मानव की मौलिक रचना है। प्रकृति के साथ सामंजस्य करता हुआ मानव मानव निरंतर विकास की दिशा में अग्रसर हो रहा है। प्रकृति का अनुकरण और प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित कर मानव समाज का निर्माण हुआ है। डा0 रामरतन भट्नागर के मतानुसार कलाकार मूर्त की भीतर से उस अमूर्त सौन्दर्य और अक्षय प्रेम की झांकी देता है जो समस्त दृश्यमान वस्तुओं को एक सूत्र में ग्रथित करता है। इसलिए कला ही मनुष्य वस्तुन्मुख जगत और मानव स्वभाव की दुर्बलताओं और असंगतियों का अतिक्रमण करने में सफल होता है।[5] कला मूलतः उपयोगी और ललित कला के रूप में समाज में स्थापित है। प्रकृति की स्वतः सौन्दर्य या मानव अपने परिवेश और पारिवारिक या सामुदायिक सहसंबंधों के साथ जीवनपथ पर स्वभाविक रूप से अभिव्यक्ति को नाट्य, चित्र, वास्तु, काव्य और संगीत के माध्यम से स्पष्ट करता है।

भारतीय संस्कृति के साक्ष्य मूलक रामायण, महाभारत महाकाव्यों में समाज की सांगीतिक वातावरण का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है। स्वयं राग,

साम और गन्धर्व संगीत के ज्ञाता माने गए हैं। दशरथ की अंत्येष्टि में सामग विद्वानों के द्वारा शास्त्रनुसार साम गान का आयोजन पुनः रावण के द्वारा शिवोपासना के तहत साम गान का भी उल्लेख है। लव और कुश द्वारा राम के सम्मुख मार्गशैली में रामायण गान का उल्लेख तत्कालीन समाज के विभिन्न उत्सवों में संगीत का उपयोग भरपूर किया जाता था। साथ ही कण्ठ संगीत, वाद्य में विपंची वीणा, नृत और नृत्य का प्रयोग उल्लेखनीय है। साथ ही अराजक जनपद में नट या नर्तक की प्रवृत्ति कदापि संभव नहीं, उक्ति संगीत के प्रति सचेतनता को स्पष्ट करती है। उल्लेखनीय सांगीतिक शब्दावली जैसे श्रुति, स्वर, गान, मूर्च्छना जाति स्थान के साथ ही कैशिक राग, बल्लरी, कोण, मृदंग, पणव, मुरज, पटह, भेरी, दुन्दुभि, वेणु, शंख इत्यादि सांगीतिक वातावरण को स्पष्ट करते हैं। पुनः गन्धर्व के आचार्य नारद तुम्बरू की विशेष ख्याति नृत्य के व्यवसाय नट नर्तक और शैलूस जातियां करती थी जिन्हें राजाश्रय प्राप्त था।

संगीत के माध्यम से, भारतीय दर्शन मान्यता के अनुसार, चतुर्वर्ग के साधन, अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साधन, में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका है। संगीत के स्वरों को विभिन्न देवताओं से जोड़ना नाद, श्रुति, स्वर आदि सांगीतिक उपादानों का विविध दार्शनिक वैचारिक सिद्धांतों के माध्यम से देवी-देवताओं से संयुक्त करना और सांगीतिक धारा को गान्धर्व स्वरूप पारिभाषित करना और गान्धर्व का उद्देश्य देव पारितोष या गांधर्व से अदृश्य फल प्राप्ति को प्रतिष्ठित करना संगीत का धर्म से अनन्य संबंध को प्रतिपादित करता है। हिन्दू सनातन धर्म के देवी-देवता का संगीत के साथ कल्पना अर्थात् शिव के डमरू धारक, कृष्ण को बांसुरी वादक, सरस्वती के साथ वीणा, विष्णु के साथ शंख का शाश्वत संबंध जोड़ा गया है। संगीत मकरंद ग्रंथ में ब्रह्मा को तालधर, हरि को पटही, सूर्य चन्द्र को वंशवाद्य के ज्ञाता, नन्दी को मर्दल वादक और शिवशंकर भगवान को कुशल नर्तक के रूप में माना गया है। विविध सांगीतिक ग्रंथों में संगीतोपयोगी वाद्यों का देवताओं के साथ संबंध जोड़ा गया है।

भारतीय दर्शन के सिद्धांत प्रतिपादन की दो धाराएं आगम और निगम संक्षेप में कहा जा सकता है कि आगम का क्षेत्र व्यापक है। इस धारा में उपासना अर्थात् पूज्यनीय के निकट होने की प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। उपासना के मौलिक साधन यंत्र, मंत्र, तंत्र है। यंत्र का शाब्दिक अर्थ उपकरण आगम परंपरा में विविध बिन्दु रेखाओं के माध्यम से विशिष्ट आकृतियां बनाई जाती है, जिसे उपासना के अंग मानते है जैसे लक्ष्मी पूजा में श्रीयंत्र, कंघी, सिन्दूर का डिब्बा आदि की आकृति बनाना या फिर किसी भी पूजा उत्सव में रंगोली आदि बनाना। इसके अतिरिक्त विविध भौतिक उपकरणों को भी उपासना के अंग कें रूप में यंत्र के अंतर्गत समाहित कर सकते हैं। मंत्र विशेष प्रकार की सूत्रात्मक उच्चरित शब्द समूह और तंत्र का अर्थ विशेष विधि विधान से उपासना की प्रक्रिया है।

हृदय की वह अभिव्यक्ति जिसका आधार और विविध आयामों की मूल सिर्फ आनंद की अनुभूति से हो और जिससे सिर्फ आनंद की ही स्थापना हो वही ललितकलाएं हैं। ललितकलाओं के अंतर्गत चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला या स्थापत्य कला तथा नाट्यकल प्रमुख है। ललितकलाओं में उपयोगिता या व्यवहारिकता का सम्पुट कम होता है। यह स्वतः हृदय से हृदय की वार्ता या सम्प्रेषण का माध्यम हो जाता है।

कलाकार और श्रोता अथवा दर्शक ललितकलाओं के प्रमुख साधक और आस्वादक है। ललितकलाओं का संबंध प्रमुख रूप से श्रवण और दर्शन इन्द्रियों अर्थात् कर्ण और चक्षु से है। संगीत के साथ ही नाट्य और नृत्य कला का रसास्वादन श्रवण और दर्शन के आधार कर्ण और चक्षु दोनों से ही सामानान्तर रूप से होता है।

संगीत कला के उपकरण स्वर, लय, ताल, पद अत्यंत अमूर्त है और साथ ही सचल गतिशील है। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला और साहित्य में कला के उपकरण मूर्त है और यह कलाएं अचल है। संगीत कला प्रयोग के समय और सिद्धांततः प्रयोग के पश्चात् निरंतर नित नवीन उन्मेष के साथ हृदय को आहलादित करती है। नाट्य और नृत्य कला में चल, अचल दोनों प्रकार के उपकरण उपस्थित होते हैं। यही कारण है कि दृश्य, श्रव्य कला हृदय को ज्यादा प्रभावित करते हैं।

मनुष्य की देह और मन दो धाराओं में परितुष्टि ही उसके व्यक्तित्व को पूर्ण स्वरूप प्रदान करता है। संगीत विषय का पूर्णतः संबंध मनोविज्ञान से है। एक सहृदय प्रयोक्ता ही श्रोता को अपनी कला से परितुष्ट करने की क्षमता रखता है। विभिन्न शास्त्रग्रंथों में वाग्गेयकार के लक्षण बताते हुए अवधान पर अत्यंत बल दिया गया है अर्थात् स्थिर चित्त से अवधानपूर्वक संगीत कला को सीखने का सिद्धांत स्वतः प्रमाणित है। साथ ही मनोवैज्ञानिक स्तर पर कल्पना, स्मृति और सीखना यह संगीत और संगीतशास्त्र के अध्ययन की आधारशीला है। कोई भी रचनात्मक कला खासकर संगीत जैसी अमूर्त सिर्फ स्वरों से बनी अवयव ही जिसका आधार हो उसके निर्मिती के लिए कल्पना और साथ ही स्मृति की अत्यंत उपयोगिता और आवश्यकता है। सुन्दर कल्पना और स्मृति का प्रयोग एक संयमित संवेग से युक्त कलाकार ही कर सकता है। संगीत शास्त्र ग्रंथों में हर एक संगीतशास्त्र ने वाग्गेयकार का लक्षण बताते हुए उसे रागद्वेष से मुक्त होने की बात कही है अर्थात् मानसिक रूप से साम्यता एक गायक के लिए अति आवश्यक है। विविध मानसिक तत्वों के साथ संगीत का संबंध निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है।

संगीत के प्रायोगिक पक्ष के प्रचार-प्रसार में वैज्ञानिक तकनीक का बहुप्रयोग होता चला आ रहा है। ध्वनि विज्ञान के सभी सिद्धांत भौतिकशास्त्र से अंगांगी जुड़े हैं। मानसिक चिकित्सा का प्रयोगिक पक्ष, रासायनिक विघटन या विकिरण में निहित हैं देह तत्व तो सीधा-सीधा जीवन विज्ञान से जुड़ा है साथ ही जंतु विज्ञान व पादक विज्ञान आदि सभी का अध्ययन और उनमें सांगीतिक प्रतिक्रिया का उपवेषण संगीतशास्त्र के अध्ययन के अंतर्गत आता है। संगीत ओर संगीतशास्त्र के स्रोता या प्रयोक्ता पक्ष दोनों ही आज विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों के साथ अंगांगी रूप से जुड़े हैं। दूरदर्शन, रेडियो, टेपरिकार्डर, सीडी, ध्वनि व्यवस्था आदि विविध विषय संगीत के वैज्ञानिक प्रयोगों पर हमें प्रसन्नता देती है। इसके अतिरिक्त विज्ञान के साथ संगीतकार का सहसंबंध ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हमें प्राप्त होता है।

संगीत के साथ गणित विषय का संबंध अत्यंत रोचक है। ताल के संदर्भ में अलंकार, अलंकार के गण, मात्र और ताल के विभिन्न आवर्तन और लयकारियों सीधे-सीधे गणित के गुणा, भाग, जोड़, घटाना आदि से जुड़ा हुआ है। बंदिश या गत का विलम्बित या द्रुत या ताल का दुगुण, तिगुण बजाना या नृत्य में विविध तिहाई आमद परन, तिल्लाना इत्यादि गणितीय प्रयोग है। इसके अतिरिक्त संगीतशास्त्र में पूर्वोक्त आचार्यों के कथनानुसार तान और प्रस्तार नियम नष्ट उदिष्ट नियम गणित से ही सिद्ध होती है।

सांगीतिक स्वर सप्तकों में स्वरों का संवाद स्वरसंवाद, सारणा चतुष्टई, बीणा के तारों पर स्वरस्थापन, श्रुतियों का अंतराल फलस्वरूप शुद्ध विकृत स्वरों का स्थान संगीताचार्यों ने गणितीय सिद्धांत के माध्यम से ही स्पष्ट किया है। स्वर प्रस्तार, ताल प्रस्तार, तान आदि गणित पर आधारित है।

अतः सांगीतिक विविध पक्ष को समझने के लिए गणित और सांगीतिक प्रयोग में मंच व्यवस्था के संदर्भ में और तात्विक रूप से संगीत के विविध सिद्धांतों में मूलतः ध्वनि के सिद्धान्तगत विशिष्टताओं को विज्ञान से पुष्ट रूप से समझा जा सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि संगीत का संबंध जीवन एवं जीवन से जुड़े अन्य सभी महत्वपूर्ण तत्वों एवं विषयों से है। संगीत के बिना संपूर्ण मानवीय जीवन अधूरा ही रहा जाएगा।

संदर्भ

1. कुलकर्णी डॉ0 वसुधा, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1990ई0
2. शर्मा डॉ0 सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 1996ई0
3. शर्मा डॉ0 स्वतंत्र, ''भारतीय संगीत-वैज्ञानिक विश्लेषण'', प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 1996 ई0
4. आचार्य बृहस्पति, भरत का संगीत सिद्धांत, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग लखनऊ 1956ई0
5. माथुर डॉ0 शोभा, ''भारतीय मेल अथवा थाट का ऐतिहासिक अध्ययन'', वाई0 ली0 इंस्टर्न, नई दिल्ली, 1992ई0

अंगिका लोकगीतों में शृंगार

भारतीय संस्कृति में अंग जनपद की अपनी विशिष्ट पहचान है। यहाँ की संस्कृति भारत के अन्य भागों के अपेक्षाकृत प्राचीनतम्, समृद्ध एवं कतिपय विशेषताओं से परिवेष्ठित है। इस संदर्भ में विक्रमशीला विश्वविद्यालय, दानवीर राजा कर्ण गढ़, शिखर शिरोमणि मंदार पर्वत, श्रद्धा एवं भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित करते बाबा बटेश्वरनाथ, परमहंस जी महाराज, महर्षि मेँहीं की तपोभूमि, पतित पावनी गंगा की स्वर लहरी, विश्व प्रसिद्ध जैन मंदिर आदि का नाम उल्लेखनीय है। इतना ही नहीं, अंग जनपद कला, संगीत एवं साहित्य के क्षेत्र में अग्रगण्य रहा है। यहाँ का लोक साहित्य, लोककला और संगीत अपने आंतरिक गुणों एवं वैविध्य में अत्यन्त समृद्धशाली है।

अंगिका अंग देश की भाषा है। महाभारत काल में कर्ण को दुर्योधन ने जिस प्रदेश का राजा बनाया था, वही अंग देश है। प्राचीन काल में इस प्रदेश की भाषा को 'आंगी' कहा जाता था। "पाणिनि व्याकरण के अध्याय-4, पाद-1 के 178वें सूत्र "न प्राप्य मर्यादि योगेयादिशाः" की स्थापना करते हुए सप्तम शताब्दी के वैयाकरण और काशिकावृत्ति के रचयिता वामन जयादित्य ने "प्राच्या" के अंतर्गत पांचाली, वैदेही, आंगी, बांगी और मागधी को रखा है।"[1] "सिद्धांत कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित ने भी आंगी, बांगी, वैदर्भी, पांचाली, मागधी एवं प्राच्या कहा है। इन लोगों के पूर्व पाणिनी के महाभाष्यकार पतंजलि ने भी कई प्रसंगों में 'आंगी' का उल्लेख किया है।"[2] 'आंगी' को 'अंगिका' नाम देने का श्रेय महापंडित राहुल सांकृत्यांयन को है। वर्त्तमान में मुंगेर, जमुई, देवघर, बांका, भागलपुर, गोड्डा, खगड़िया तथा बेगूसराय जिला इस भाषा की सीमा में आते हैं। डॉ. तेजनारायण कुशवाहा लिखते हैं- "अंगिका प्राचीन [illegible] (आधुनिक भागलपुर) संथालपरगना, [illegible] और बेगूसराय जिला की भाषा है।"[3]

अंगिका लोकगीतों में शृंगार की प्रा[illegible] दशाओं का वर्णन मिलता है। सोहर, विवा[illegible] होली गीतों में संयोग शृंगार का सुन्दर [illegible] है। निम्न सोहर में संयोग का वर्णन देखें-

"नीपी ले लों पोती लेलों मंदिनवा,
व चारु ओर चित केलों हे,
ललना रे, हेरलौं नैहरवा के बाट,
त केओ नहीं आयल हे।
सासु मोरा गंगा असलान,
ननदिया घूमन गइले हे।
ललना रे पिया मोर छेंकत डआर,
तनि एक धनि हँसि बोलु हे।
हंसेते में आहे पिया नीक लागे,
ओरो पियार लागे हे।
ललना रे, दिन-दिन देहिया
गदुआएल मुहमा पियराएल हे।"

यहाँ सूनसान घर में पति-पत्नी के मिलन [illegible] वर्णन हुआ है। समागम के फलस्वरूप नायिका गर्भ[illegible] हो जाती हैं और गर्भ के लक्षण उसके शरीर में [illegible] होने लगते हैं।

प्रथम मिलन में कोई नायिका किस प्रका[illegible] उत्सुकता एवं लज्जा से काँपती है, इसका [illegible] विवाह गीत की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता[illegible]

"खिड़की ओठ छाव लाके माय बनाबेलें
देखे धिया के सोहाग हे।
जैसन काँपे केरा के झालरी,
तैसन धिया के सरीर हे।"

शोध-छात्र, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति.मां. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

की खिड़की से झाँकती है कि उसकी प्यारी बेटी पति से मिलती है या नहीं, परंतु वह तो केले के पत्ते की तरह कोमली दिखाई पड़ती है।

अंगिका लोकगीतों में नायिका के उद्दीपक रूप का वर्णन भी मिलता है। उदाहरणार्थ--

"केहि मन मारि खड़ी गोरी ऐङना, केहि मन हे।
काहे के बाजुबंद, काहे के कंगना, काहे के चोलिया,
इनिये दोनों सोचना, केहि मन हे।।1।।
सोना के बाजुबंद, रूपा के कंगना, रेसम चोलिया,
इनिये दोनों जोबना, केहि मन हे।।2।।
टूटि गेलै बाजुबंद, फूटि गेलै कंगना, फाटि गेलै चोलिया,
उघरि गेलै जोबना केहि मन हे।।3।।
जोड़ि लेबै बाजुबंद, जोड़ि लेबै कंगना, सीबि लेबै चोलिया,
इनाइ लेबै जोबना, केहि मन हे।।4।।"

इस गीत में विभिन्न आभूषणों से सजी-धजी नायिका का वर्णन हुआ है। वह चिंतित अवस्था में खड़ी है। नायक उस पर मुग्ध होकर चिंता का कारण पूछता है और आतुर होकर मिलना चाहता है। नोंक-झोंक में आभूषणों का टूटना तथा मोती का बिखरना स्वाभाविक है। लोक कवि ने फटे हुए चोली को संबोधित करके कुछ-युग को उधारने की यथेष्ट चेष्टा इस गीत में की है।

अंगिका लोकगीतों में वियोग शृंगार की भी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। जैसे--

"ऊँची रे अटारी चढ़ि रोवे साँवर गोरिया राम।
बीतल जाय छै मोरी उमरिया अइले नै सजनमा राम।
सपना कराके सैंया भागले विदेसवा राम।
मुंदियो ना लेलकै भेजी एको सनेसवा राम।
पिया-पिया रटते-रटते पियर भेलै देहिया राम।
अजहुँ न अइले बलमुआ, बीतल जाय उमरिया राम।
नैनिया लगाके सैंया भागले विदेसवा राम।
जाय के विदेस रहे, काहे कइलै शादिया राम।
नयना से नीर हो बहे, फाटे करेजवा राम।"[6]

इस गीत में स्वकीया मुग्धा नायिका की विरह व्यथा का वर्णन हुआ है। 'पिया-पिया' रटते-रटते उसका शरीर पीला पड़ गया है। वह प्रिय पति के वियोग में रो रही है। उसके जीवन-वसंत का बहुमूल्य क्षण बीतता जा रहा है। वह उपालंभ देती हुई कहती है कि यदि उन्हें विदेश ही जाना था, तो शादी क्यों किये? नायिका की वेदना का अनुभव कर किसका हृदय नहीं पिघलने लगेगा।

दूर में पति के रहने पर तो वियोग व्यथा होती ही है, परंतु घर में रहने पर भी पति छिटकता रहे, तो नायिका की वेदना असह्य हो जाती है। ऐसी स्थिति में पति का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए पत्नी कोई-न-कोई तरकीब अवश्य निकालती है। जैसे-नागिन के डंसने का बहाना करनेवाली चतुर नायिका का चित्रण प्रस्तुत है--

"अंगुलि में डंसलै पिया नगनिया हे, ननदी दियरा जरा दे।
दियरा जरा दे, आपन भैया कऽ बोला दे,
नस-नस में फैललै जहरिया हे, ननदी दियरा जरा दे।
के मोरा अंगुरि के जहर निकालते,
के मोरा हरते दरदिया हे, ननदी दियरा जरा दे।
देवर मोरा अंगुली के जहर निकालते,
पिया मोरा हरतै दरदिया हे ननदी, दियरा जरा दे।"

यहाँ पति की विरह-वेदना ही नागिन बनकर नायिका डंस रही हे। तभी तो वह ननद से उसके भाई अर्थात् अपने पति को बुलाने की प्रार्थना कर रही है। उसके अंग-अंग में जो विरहाग्नि सुलग रही है, उसे पति ही बुझा सकते हैं। राधा भी कभी-कभी कृष्ण को पाने के लिए ऐसा ही बहाना करती थी। जैसे-

"हंसी री स्याम भुअंगम कारे।
मोहने मुख मुसुक्यानि मनहूँ विष जात मरै सों मारे।"[7]

इस प्रकार अंगिका के लोकगीतों में शृंगार के उभय पक्ष का वर्णन हुआ है एवं लोकगीत शृंगार रस से लबालब भरा हुआ है।

संदर्भ :

1. प्रतिनिधि अंगिका कवि भूमिका, पृ. 3.
2. बनपाँखी, पृ. 20.
3. वही, पृ. 46.
4. अंगिका संस्कार गीत, पृ. 32.
5. अंगिका संस्कार गीत, पृ. 298.
6. अंगिका लोकगीत, पृ. 313.
7. संक्षिप्त सूरसागर, पृ. 110

मोदलता विवाह पदावली : संस्कार गीत का पिटारा

बिजली कु

घटना 1920 ई0 की है। बेगुसराय के भक्तों के सत्यप्रयास से वहां श्री सीताराम विवाहोत्सव मनाया जा रहा था। उत्सव के संचालक थे मधुरोपासना विवाहोत्सव के मुख्य प्रवर्तक संतशिरोमणि श्री रामाजी महाराज। भांवरि की विधि सम्पन्न हो रही थी। विधि ा के लिए रामचरित मानस की चौपाई की मदद ली जा रही थी - "कुअंरूकुअरि कल भॉवरि देही, नयन लाभ सब सादर लेही।" रामाजी महाराज इस चित्ताकर्षक क्षण को लंबा खींचकर इससे अधि ाकाधिक रसास्वादन करना चाहते थे। इन्होंने साथ में मिलकर गानेवाले को आदेश दिया कि भांवरि के और भी पद गायें जाए। उपस्थित सभी गायक आदेश पालन में असमर्थ हो रहे थे।

आशु कवि की भांति मोदलता जी भॉवरि पद की रचना भी कर रहे थे और गा भी रहे थे। पद इस प्रकार था-

"चारू दुलहा देत भंवरिया ए।
संग सोहति दुलहि नगरिया ए।
श्याम गोरी, गौर श्यामा, चारो जोड़ा जोड़िया ए।।"

पद रचना से ऐसा लगता था मानो कवि भांवरि लीला का साक्षात दर्शन कर रहे हों और उसी का वर्णन अपनी महावाणी में करते जा रहे हों। पद गान के समय श्रोता-दर्शक समाज भाव समाधि में निमग्न हो चुके थे। इस गान की समाप्ति पर चारों ओर से जय-जय! बलिहार! बलिहार! की हर्ष ध्वनि होने लगी। कवि पर सुमन वृष्टि होने लगी। श्री रामाजी महाराज ने तो लपककर आपको अपने हृदय से चिपटा लिया। उसी समय श्री रामाजी का आ हुआ कि आप समस्त विवाह विधियों पर पद र कीजिए। रामाजी के नेतृत्व में संपूर्ण उपस्थित स समाज के द्वारा मोदलताजी का श्री सीताराम वि पद्धति के आचार्य पद पर मंगलाभिवेचन हुआ इस प्रकार आपके कवित्कृति का शुभारंभ हुआ।

आपके विवाह गीतों का संकलन 'मोदलता-वि पदावली' के रूप में प्रकाशित है। इसका प्रका श्रीमती ललिता देवी ने इनके जन्मशती के अव पर 1990 ई0 में किया तथा संपादन इनके सुप सुपुत्र जानकी रमण शरण ने किया। मुद्रण का का मनीराम प्रिटिंग प्रेस अयोध्या (उ0प्र0) में कि गया। प्रकाशित कृति के तीन भाग है- प्रथम भाग श्री गुरूदेव वंदना, श्री गणेश वंदना, श्री मा वंदना, फुलवारी प्रसंग, स्वयंवर, जयमाला, म छड़ावन, सुमंगली, धनबट्टी, मटकोर, हरदी बुका उवटावन, चुमावन, आरती, तिलक चढ़ा मंगलदेवाराधन, बारात आगमन, जनवासा के गी मात्रिका पूजन, बरियात परिछन, दुलहा छवि व दुलहा परिछन, छुरछक, बटगमनी, गाल सेकाई, अ परिछन, मंडप परिक्रमा, कन्या-निरीक्षण, अर्घो दुलहा नहछु, गोत्रध्याय, पाणि ग्रहण, वर-क प्रतिज्ञा, कन्यादान, सप्तभामरि, सिन्दुर दान, दूर्वा मंत्र, लहकौरी, मंडप झांकी, घोंघट, मंडप पर स गारी, कोहबर प्रस्थान, द्वारा छेकाई, कुलदेवता पू जुआ, बत्ती मिलावन, कोहबर हास्य, पाटी ब भेड़ा नथाई, पहेली बुझौअल, जेवनार, आच

शोध छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

कन-दोली हेरान, दुलहा के हार, निन्दिया, विहाग, आरती, मोदित ब्याह रहस्य, मंगल मधुपर्क जगावनी, दोली, आरती, अम्बा के उपदेश, बारहमासा, विरह ज्वार, आरती, कवित्त, गजल-गुंजन आदि के पद है।

दूसरे भाग में गौनोत्सव (पौष), शिवरात्रि (माघ), होली (फागुन), श्रीराम जयन्ती (चैत्र), श्री जानकी नवमी (वैशाख), यज्ञोपवित उत्सव (वैशाख), साकेत दिग्दर्शन (वैशाख), श्री चन्द्रकला जयंती (वैशाख), फुल बंगला (ज्येष्ठ), रथ यात्रा उत्सव (आषाढ़), झुला (श्रावण), पचीसी (श्रावण), जल-विहार (भाद्र पद), श्री कृष्ण जन्मोत्सव (भाद्र पद), सांझी (आश्विन), शारद पूजनोत्सव (आश्विन), श्री हनुमान जयंती (कार्तिक), सामा चकेवा (कार्तिक) के गीत है। इस प्रकार दूसरे भाग में विवाहेत्तर पदों का समायोजन किया गया है।

तीसरे भाग में प्रार्थना एवं मोद मंदिर से संबंधित पदों का संकलन है। इस प्रकार कवित एवं गीत दोनों को मिलाकर श्री मोदलताजी ने कुल 519 गीतों की रचना की।

आपका जन्म 1889 ई0 में जानकी नवमी के दिन मुजफ्फरपुर (बिहार) जिला अंतर्गत हरिपुर गांव में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री रघुनाथ लाल था। आप दो भाई थे। आपका नाम लक्ष्मण लाल था। बचपन में ही माताजी की मृत्यु के कारण आप दोनों भाई अपनी पीसी (फुआ) के यहां खरका गांव चले आये। फुआ की भी मृत्यु कुछ दिनों बाद हो गयी तब दोनों भाई 1901 ई0 में अपने ननिहाल पहसौल चले आये और वहीं का आप स्थायी निवासी हो गए। पहसौल कन्या पाठशाला में शिक्षक पद पर आपकी नियुक्ति हुयी। आपके जीवन में एक मार्मिक घटना घटी। घटना 1944 ई0 की है। ग्रामीणों ने शिक्षा विभाग के अधिकारियों से शिकायत की कि मोदलताजी विद्यालय कभी नहीं जाते और हमेशा ही विवाहोत्सव में भाग लेने बाहर चले जाते हैं। अधिकारी ने तत्कालीन उपनिरीक्षक श्री ब्रजेन्द्र बहादुर सिंह को औचक निरीक्षण करने के लिए कहा। उन्होंने औचक निरीक्षण किया। विद्यालय में सबकुछ ठीक-ठाक पाया और शिक्षक लक्ष्मण लाल (मोदलताजी) को वर्ग संचालन करते हुए पाया। उपनिरीक्षक महोदय अपने घोड़े पर सवार होकर विद्यालय से लौट रहे थे। दूसरी ओर श्री लक्ष्मण लाल 'मोदलता जी' पहसौल के समीप ही सहनौली गांव में विवाहोत्सव मना रहे थे वहीं उन्हें जानकारी मिली कि आपके विद्यालय में उपनिरीक्षक महोदय गए हैं। सुनते ही वहां से भागते-भागते आप विद्यालय की ओर आ रहे थे। रास्ते में ही आपकी मुलाकात उपनिरीक्षक महोदय से हुई, आपने अभिवादन किया। उपनिरीक्षक महोदय ने कहा - "आप यहां? अभी-अभी मैं देखकर आ रहा हूं आप वर्ग संचालन में लीन थे। मोदलता जी ने कहा - "नहीं हुजूर, नहीं। मैं तो दो दिनों से सहनौली गांव में विवाहोत्सव संपन्न करा रहा था।" उपनिरीक्षक महोदय को आश्चर्य हुआ। तत्क्षण मोदलताजी को ज्ञात हुआ कि आपके लिए स्वयं प्रभु को कष्ट उठाना पड़ा। आपने उसी दिन नौकरी छोड़ दी और मधुरोपासना में निमग्न हो गए।

मोदलताजी के विवाह गीत रागनिबद्ध कर भी गाये जा सकते हैं। कतिपय गीत स्व0 विदुर मल्लिक एवं पद्मश्री शारदा सिन्हा को गाते सुना है। गीतों के शब्द एवं लयात्मकता सदैव मुझे आकर्षित करते रहे है।। अन्य विवाह गीतों की तरह इनके गीतों को भी लोकप्रिय बनाने की आवश्कयता है।

प्रस्तुत है कुछ पदों की स्वरलिपियां -

पद सं0-48

पृ0 सं0-25

मंगल आजु जनकपुर मंगल-मंगल हे।

मंगल तनेउ वितान गान ध्वनि मंगल हे।।1।।

मंगल बाजन बाजहिं पुर नर मंगल हे।

मंगल वस्तु लय साजहिं मिलि सब मंगल हे।।2।।

मंगल मंत्र उच्चारहिं महिसुर मंगल हे।

मंगल तनु धरि धाय उमगि जनु मगल हे।।3।।

मंगल दुलहिन चारू दुलह चारो मंगल हे।
मंगल ब्याह उछाह 'मोद' प्यारी मंगल हे।।4।।

ताल रूपक

स्वरलिपि

स्थायी

सा रे रे	म -	म रे
मं ग ल	आ ऽ	जु ज
म प -	घ -	घ नि
न क ऽ	पु ऽ	र मं
ध प पम	धप पम	म रे
ग ल मंऽ	गऽ लऽ	हे ऽ
0	2	3

अंतरा

ध प म	म -	म ग
मं ग ल	बा ऽ	ज न
रे गरे सा	सा -	गरे - -
बा ज हिं	पु ऽ	रऽ ऽऽ
म म म	म म	म म
न र मं	ग ल	हे ऽ
0	2	3

शेष अंतरा इसी प्रकार गाये जायेंगे।

ताल रूपक का परिचय

मात्र-7, विभाग-3, ताली-2, खाली-1

व्यवहार में प्रथम मात्रे पर खाली की जगह ताली भी दिया जाता है।

बोल -

तीतीना/धीना/धीना

0 2 3

गीत सं0-38

पृ0 सं0-20

चुमावन पद

सिय सांवली को सजनी चुमावत है।
आहे मंद-मंद मुसुकावति हैं।।
दुबि-धान धै-धै शुभ अंगनि,
तिर्छी नजरिया घुमावति है।।
हैं कि सती की सची कि सरस्वती,
विष्णु-प्रिया श्री रमा-रति है।।
डाला परसि डुला सिर सेहरा,
दिव्य दमक दमकावति हैं।।
'मोद' के हियरा हलकत, सजीनी,
जब तू। हुमकि दवावत हैं।।

स्वरलिपि ताल-रूपक

स्थायी

सा रे रे	म -	म रे
सि य सां	व ली	को स
म प -	घ -	घ नि
ज नी ऽ	चु मा	व त
ध प पम	म -	म रे
हैं ऽ ऽऽ	आ हे	मं द
म प -	ध -	ध नि
मं द ऽ	मु स	का र
ध प पम		
त हैं ऽऽ		3
0	2	

अंतरा

ध प म	म -	म ग
द वि धा	न धै	धै धै

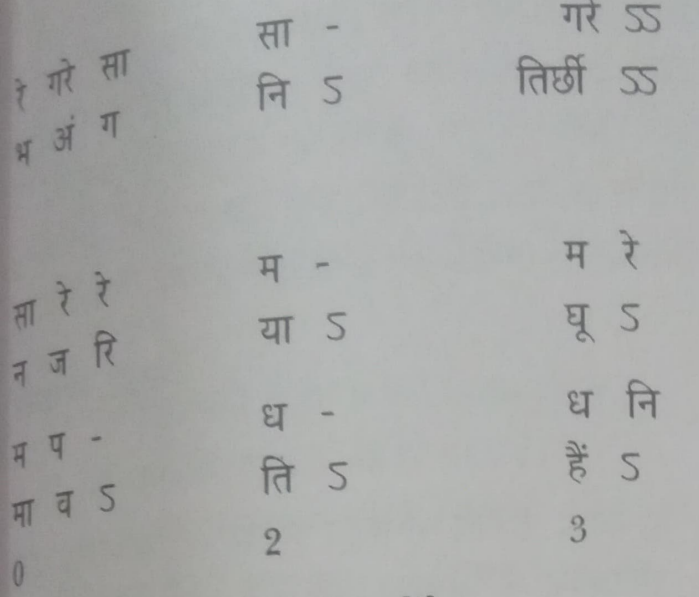

शेष अंतरा इसी प्रकार गाये जायेंगे।

संदर्भ :

1. मयंक डॉ0 कृष्णचन्द्र झा, मिथिला मयंक माधुरी, लोक प्रकाशन, दरभंगा (2010 ई0)
2. प्रसाद श्री जगन्नाथ जी, श्री सीताराम विवाह संकीर्तन, प्रकाशक कन्हैयालाल कृष्णदास, श्री रामेश्वर प्रेस, दरभंगा (2007 ई0)
3. संत सरस (भइयाजी), श्री लीला रहस्य माधुरी व रामसिया, प्रकाशक वा0 लक्ष्मण प्रसाद, अमृतसर सं0 2031 (द्वितीय संस्करण)
4. रचनाकार प्रसाद श्री रामचरित्र, वैदेही विवाह, श्री लोक बंधु पुस्तकालय (जनकपुर रोड), श्री निधि।
5. रचनाकार श्री लक्ष्मण शरण 'मोदलता जी', मोदलता विवाह पदावली, सं0 2047 (1990 ई0)

संगीत का व्यक्ति पर प्रभाव

गीतं वाद्यं च नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते"।

(संगीत रत्नाकर)

अर्थात गायन वादन एवं नृत्य इन तीनों के मिलने से जो स्वरूप निखरता है, उसे हम संगीत कहते है। संगीत शब्द में सम का अर्थ है उदात्त (पवित्र) अच्छा गीत अर्थात धुन जिसका शब्दों के अतिरिक्त भी अस्तित्व है।

"संगीत की उत्पत्ति आरम्भ में वेदों के निर्माता ब्रह्माजी द्वारा हुई। ब्रह्मा जी ने यह कला शिव को दी और शिव के द्वारा सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती को इसीलिए वीणा-पुस्तक धारिणी कहकर संगीत ओर साहित्य की अधिष्ठात्री माना गया है।"

पं. दामोदर द्वारा रचित ग्रंथ "संगीत दर्पण" के अनुसार संगीत कला की उत्पत्ति इस प्रकार है -

"द्रुहिणेन यदन्विस्टं प्रयुक्तं भरतेन च।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम।।"[4]

अर्थात ब्रह्माजी ने संगीत को शोधकर निकाला तथा भरतमुनि द्वारा महादेव के समक्ष जिसका प्रयोग किया गया यह मुक्तिदायक है, तथा मार्गी संगीत कहलाता है। भारतीय परम्परा में कुछ विद्वान संगीत की उत्पत्ति 'ओम' से भी स्वीकारते है। उमेश जोशी इस सम्बन्ध में कहते है "संगीत का जन्म 'ओम' के गर्भ से हुआ। "ओम" शब्द एकाक्षर होकर भी अ, उ, म इन तीन अंक्षरों से निर्मित हुआ है।"[5] संगीत की उत्पत्ति 'ब्रह्मा जी' के श्री मुख से स्वीकारी गई है। "श्री मद्भागवत्" में ऐसा वर्णन है।

गीत और वाद्य श्रव्य कलाएँ है, तथा नृत्य कला चाक्षुष कला है। और इन तीनों में घनिष्ठ सम्बन्ध

व्याख्याता, संगीत-विभाग, राजेन्द्र प्रा. म. महाविद्यालय, सहारसा

है, अतः संगीत रत्नाकर में दी गई परिभाषा [illegible] दृष्टिकोण से बिल्कुल सही है।

किंवदन्ती है कि, "नारद मुनि" ने अनेक [illegible] तक योग साधना की, उनकी साधना से प्रसन्न [illegible] देवाधिदेव शंकर ने उन्हें संगीतकला प्रदान की। [illegible] की शयन मुद्रा को देखकर शिव ने रूद्र वीणा [illegible] आविष्कार किया। तथा अपने पाँच मुखों से पाँच [illegible] की उत्पत्ति की, शिव के पूर्व मुख से "दीपक राग" तथा उर्ध्व मुख से "श्री राग" उत्पन्न हुए तथा [illegible] द्वारा कौशिक राग की उत्पत्ति हुई।[6]

एक फारसी कथा में वर्णन है कि "[illegible] काल में हरजत मूसा (जो एक फकीर थे) [illegible] सैर करने निकले, उन्होंने एक पत्थर देखा, [illegible] उसी समय "जेवरायूल" नामक फरिस्ता आया [illegible] उसने 'हजरत मूसा' को एक पत्थर दिया, और [illegible] कहा कि, 'यह पत्थर तुम अपने पास रखना' [illegible] दिनों पश्चात् 'हजरत मूसा' जंगल में सैर [illegible] निकले उन्हें, जोरों की प्यास लगी, खुदा की [illegible] के परिणामस्वरूप वर्षा हुई। पानी की धारा [illegible] पास फरिस्ते द्वारा दिए गए पत्थर पर पड़ने [illegible] उस पत्थर के सात टुकड़े हो गए, उन सात टुकड़ों [illegible] पानी की सात धराएँ फूट पड़ी। जिसमें [illegible] अलग-अलग ध्वनियाँ निकली। हजरत मूसा ने [illegible] ध्वनियों को याद कर लिया। आगे चलकर ये [illegible] ही सात स्वर क्रमशः सा, रे, ग, म, प, ध, नि [illegible] समझे जाने लगे।[7] पाश्चात्य विद्वान संगीत की [illegible] के सम्बन्ध में अपना अलग मत प्रस्तुत करते [illegible] कहा है कि - "मनुष्य साधारण अवस्था [illegible] हृदयस्थ भावों के आवेगानुसार अन्यान्य [illegible]

स्वर प्रयुक्त करता है, जिसके कारण एक हीं शब्द या वाक्य विभिन्न अर्थों को प्रकट करता है। अतः भाव प्रकटन के उत्कृष्ट साधन के रूप में संगीत की उत्पत्ति हुई।" मतंग कृत "वृहद्देशी ग्रंथ" में संगीत की उत्पत्ति विभिन्न पशुपक्षियों की बोलियां से स्वीकारी गई है।

"षड़जं वदति मयूरं ऋषभं चातकोवद्ेत्।
आजावदति गान्धारं क्रौंचों मध्यम।।
पुष्प साधरणे काले कोकिलं पंचंमो वदेत्।।
प्रावृट काले तु सम्प्राते धैवंत दर्दुरो वदेत।
सर्वदा च तथा देवी निषादं वदेत गजः।।"

अनन्त काल से मानव सांसारिक जीवन से दूर शान्ति की तलाश में भटकता रहा है। समस्त बंधनों से अपने को मुक्त कर मानव ने तपस्वी का जीवन अपनाया, इन्द्रियां तथा मन को वश में किया, परन्तु मानव मन को शान्ति कब और कहाँ मिली यह कहना कठिन है। महर्षि पतंजलि, भगवान बुद्ध, आदि शंकराचार्य, जैसे महान योगियों ने अपने-अपने ढंग से विभिन्न साधना पद्धतियों का आविष्कार किया।

साधना का अर्थ है - "मन को किसी विषय में एकनिष्ठ भाव से संयुक्त करना।"[7] श्री मद्भागवत्गीता तथा अन्य उपनिषदों में शान्ति साधना का आधार इन्द्रिय वशीकरण, मन बुद्धि की निर्मलता और परब्रह्म से तदाकार होना बताया है। इसकी अनुभूति संगीत द्वारा ही अनुभव की जा सकती है। संगीत के स्वर कलाकार के मन में सृजित होकर कल्पना के आधार पर नाद सौन्दर्य की सृष्टि करते है। संगीत संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

भर्तहरि के अनुसार -

"साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात
पशु पुच्छविषाणहीनः।"[8]

अर्थात जो मनुष्य साहित्य और संगीत को नहीं जानते वे बिना सींग के साक्षात पशु के समान है। संगीत कला भारतीय संस्कृति में एक अत्यंत उच्च कोटि की कला मानी गई है, सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति तथा भावनात्मक विकास संगीत कला के द्वारा होता है।

संगीत सदियों से मानव जीवन का अनिवार्य अंग बनकर प्रायः विश्व की समस्त संस्कृतियों मे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते चला आ रहा है। आज की भागदौड़ भरी जिन्दगी में जब मनुष्य अपने आप को अकेला एवं थका हुआ महसूस करता है तो, उस समय संगीत की मीठी स्वर लहरियाँ उसे एक असीम आनन्द का एहसास कराती है। यानि जब मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक व्यथाओं से ग्रस्थ होकर थक जाता है तो, मन की उद्विगणता को शान्त कर पुनः सशक्त बनाने की क्षमता एक मात्र संगीत में है। मिल्टन ने 'पेराडाईज लास्ट' में लिखा है कि, "जब ईश्वर ने सृष्टि रची तब उसने विखरे हुए महाभूतों को संगीत के द्वारा एकत्र किया इसके पश्चात् उसने सृष्टि रचना की।"

संगीत के परमाणुओं में मानव की वृत्तियों को प्रशस्त करने के साथ साथ आत्मिक शक्ति का आविर्भाव करने की शक्ति भी निहित है। मनुष्य के चारित्रिक उत्थान एवं वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन संगीत ही हैं। अपने भावों को अभिव्यक्त करने का एक बहुत बड़ा माध्यम है संगीत। संगीत से मनुष्य का संबंध बहुत गहरा है। संगीत द्वारा मनुष्य कठिन से कठिन काम को गाते हुए कर सकता है, उसे संगीत थकान महसूस नहीं होने देता जैसे - धोबियों का कपड़े धोते समय गाना, भीमकाय पाषाणों को उपर उठाते समय श्रमिकों का गाना, खेतों में पानी देते समय किसानों का गाना, पनघट की ओर जानेवाली युवतियों के गीत, गाय चराते समय ग्वालों का गीत संगीत इस बात का प्रमाण है कि संगीत व्यक्ति पर कितना प्रभावी है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीत हमारे साथ होता है।

इंगलैंड की एक महिला 'एलियस' ने स्टूडियों में कॉच के चार ग्लास रखे जो कि उसके गायन के प्रभाव से तोड़े जाने वाले थे। उसने गायन आरम्भ किया, हजारो लोग टी.वी. पर इस प्रक्रिया को देख रहे थे, किन्तु एलियस उन ग्लासों को ना तोड़ सकी। लेकिन कुछ ही पल बाद लोगों के फोन आने शुरू हो गए लोग ग्लास के टुकड़े लेकर स्टूडियों पहुँचने लगे। एलियस के गाए एक ऊँचे स्वर ने उनके घरों में रखे ग्लास तोड़ दिए। स्टूडियों के

कमरे एक विशेष प्रकार के बने होने से वहाँ ध्वनि का प्रभाव नहीं पड़ सका। इस प्रकार युद्ध में फौजी बैण्डों को आदेश दिया जाता है कि, पुल के उपर से गुजरने समय वे बैण्ड को न बजाते हुए तथा पदचापों मे समानता न रखते हुए खामोशी के साथ चलें, क्योंकि स्वर के प्रभाव से पुल टूटने की सम्भावना रहती है।

भारतीय संगीत साहित्य में तानसेन से सम्बन्धित कई चमत्कारिक किंवदतियाँ है, जिनमें 'दीपक राग' द्वारा दीपक जला देना, मेघ राग द्वारा वृष्टि कराना। स्वर के प्रभाव से स्वामी हरिदास का (तानसेन के गुरू) हिरण को, पक्षियों को, अपने पास बुला लेना। इस प्रकार संगीत का प्रभाव व्यक्ति क्या पशु-पक्षियों पर भी देखने को मिलता है। पं॰ ओंकार नाथ ठाकुर ने लखनऊ के चिड़िया घर में एक हिसंक शेर को नियंत्रित करने में संगीत का प्रयोग किया था। शेर की आँखों में हिंसक भाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे, किन्तु कोमल गान्धार (ग) के विशिष्ट प्रयोग द्वारा वह उनके पीछे अपनी दुम हिलाने लगा।

संगीत का प्रभाव वनस्पतियों पर भी देखने को मिलता है। पं॰ ओंकार नाथ ठाकुर द्वारा सर जे॰सी॰ बोस के प्रयोगशाला में जाकर "भैरवी राग" का गायन कुछ इस प्रकार पौधों एवं पत्तें पर प्रभावी रहा कि गायन पश्चात् पत्तों एवं पौधों पर एक विशेष प्रकार की चमक आ गई।

एक ओर जहाँ संगीत विश्व की भाषा है, वहीं संसार के कल्याणार्थ एक सशक्त चिकित्सा माध्यम भी है। जिसमें आज सम्पूर्ण संसार में व्याप्त व्याधियों, बुराईयों एवं रोग, दुख, चिंता आदि को दूर करने की दिव्य शक्ति है। संगीत न केवल मानसिक मनोविकृत्तियों को दूर करने में सक्षम है, बल्कि इससे शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की भी प्राप्ति होती है। संगीत से रोगोपचार की प्रक्रिया प्राचीन समय में भी उपयोग में लाई जाती थी, न केवल भारतीय बल्कि यूनान में अरस्तू, प्लेटो, और पाईथागोरस, को भी संगीत के माध्यम से रोगों के उपचार की प्रक्रिया का भली भाँति ज्ञान था।

संगीत मनुष्य के लिए औषधि साबित हुई है। चिकित्सा जगत में संगीत द्वारा रोगों को दूर करने में इसका भरपूर प्रयोग किया जाता रहा है, मानसिक रोगों पर पक्षाघात (लकवा), अनिद्रा, हाई-ब्लडप्रेशर, शुगर आदि कई प्रकार की बीमारियों पर संगीत का चमत्कार देखने को मिलता है।

संगीत के प्रभाव से मानसिक रूप से विचलित व्यक्तियों का इलाज किया जाता है। मधुर संगीत सुनकर गायें भी अधिक दूध देती है। डॉक्टर अपने ऑपरेशन थियेटर में मधुर संगीत की व्यवस्था रखते हैं, ताकि मरीज को उसके ऑपरेशन में दर्द का कम एहसास हो। प्रसन्नता की बात है कि, आजकल विश्व के कई विशेषज्ञ एवं डॉक्टर संगीत के रहस्यपूर्ण त वों के अनुसंधान में संलग्न है। आजतक के परीक्षणों में अनेक ऐसी चमत्कारपूर्ण बातें मिली हैं, जिनके द्वारा अनुसंधानकर्ताओं का उत्साह बढ़ता ही चला जा रहा है और अनुसंधान के इस क्रम में कई प्रकार के वैज्ञानिक चमत्कार संगीत के क्षेत्र में हमें देखने को मिल रहे है।

अतः हम कह सकते है कि, सम्पूर्ण प्रकृति में संगीत समाहित है। क्योंकि प्रकृति एव मनुष्य का आपस में सीधा संबंध है। अर्थात मनुष्य और संगीत एक दूसरे से भिन्न नहीं है। भारतीय संगीत की श्रेष्ठता किसी से छिपी नहीं है। संगीत के क्षेत्र काफी विकसित और विस्तृत हो चुके है। संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में भी प्रयोग किए जा रहे है, वो भी सराहनीय है। संगीत में नित नए-नए अनुसंधान हमें देखने को मिल रहे है। इसलिए संगीत का व्यक्ति पर प्रभाव के साथ-साथ पेड़-पौधे, पशु-पक्षियों सबों पर प्रभाव देखने को मिलता है।

संदर्भ

1. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ।
2. पं. दामोदर, संगीत दर्पण, श्लोक - 4, पृष्ठ 12
3. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ012
4. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 ।
5. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 ।
6. शर्मा अमल दास, संगीतायन, पृष्ठ 12
7. कल्याण साधना, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 2
8. भर्त्तहरि शतक, नीतिशतक, श्लोक - 12

मिथिला में पारंपरिक मधुरोपासना : संगीतपरक दृष्टि

फणीश कुमार

मिथिला में रामभक्ति की एक अविछिन्न परंपरा दृष्टिगत होती है। मिथिला रामप्रिया सीता की जन्मस्थली है, इसलिए रामभक्ति के मुख्य केन्द्र के रूप में मिथिला का उल्लेख किया जाता है। भक्त्याचार्यों के अनुसार भक्ति, शक्ति की कृपा से ही संभव है। वैष्णव धर्म में अवतारी ब्रह्म की तीन शक्तियां संवित, संधिनी और आह्लादिनी मानी गयी है। संधिनी और संवित सत्तात्मिका और ज्ञानात्मिका शक्ति है और आह्लादिनी से ही भगवान की लीला धरिणी प्रकट होती है। भगवान् की स्वरूप शक्ति का प्राकट्य ही भक्ति है। इस प्रकार आह्लादिनी शक्ति के द्वारा ही भक्ति का आगमन संभव है। यहां ब्रह्म ही शक्त्याधीन है। वेदान्त में माया ब्रह्म की वशवर्तिनी है, परंतु भक्ति में शक्ति के प्रति ही ब्रह्म समर्पित है।

यजुर्वेद और अथर्ववेद में सीता विषयक अनेक मंत्र विद्यमान है। ऋग्वेद में भी पाठान्तर से ये मंत्र मिलते है। सामवेद में भी सीता विषयक मंत्र विद्यमान है। इस प्रकार सीता सूक्त की मधुर भाव परक व्याख्या भी की जाती है। 'सीता मंत्रर्थ रहस्य' नामक ग्रंथ में सीता सूक्त के माधुर्यपरक ही अर्थ लिये गए है। उदाहरण के लिए सीता विषयक इस मंत्र को देखा जा सकता है :-

"सीरा युञ्जन्ति कवयो युगावि तन्वते पृथक धीरा देवेषु सुम्नयो"

(अथर्व 3/17/1)

इस मंत्र का माधुर्यपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि जब सीताराम मिलते हैं तब कवियों की वाणी के द्वारा दोनों की पृथक लीला का गायन होता है। सीता के 'सी' और राम के 'रा' से यहां सीरा शब्द बना है। सीता सूक्त के एक मंत्र में यह कहा गया है कि इन्द्र सीता को ग्रहण करें और पूषा उनकी रक्षा करें। वह दुग्ध या जल संपन्न सीता सदा सौभाग्य की वृद्धि करें -

इन्द्रः सीता निगृह्णातु तां पूषा भिरक्षतु।
सा नः पयश्वती सीता दुहामु उत्तरामुत्तरां समाम्।।

इस प्रकार सीता मंत्रर्थ रहस्य नामक ग्रंथ में सीतासूक्त के मंत्रों की सीताराम विवाह या मधुरोपासना परक व्याख्या की गयी है।

रामचरितमानस के अनुसार मिथिला निवासी याज्ञवल्क्य ही त्रिवेणी संगम प्रयाग में भारद्वाज को रामकथा कहते हैं। याज्ञवल्क्य वैदिक ऋषि है। रामकथा की प्रस्तुति के प्रसंग में याज्ञवल्क्य का नाम लिया जाता है। मिथिला में सीताराम मधुरोपासना की परंपरा के रूप में अनेक भक्तों और कवियों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जा सकता है।

सीताराम विवाह विषयक अनेक पदों की रचना मिथिला के भक्त कवियों ने की है। स्वामी अग्रदास जी द्वारा प्रवर्तित मधुरोपासना मिथिलांचल में मनोज्ञरूप में प्रकट हुई है। अग्रदास जी ने अग्रअली के नाम से अनेक मधुभावापन्न पदों की रचना की। कुछ रसिक मानसोक्त "चली अग्र कवि प्रिय सरिख सोई" के रूप में अग्रली का ही उल्लेख करते हैं। मिथिला के जनकपुर में अनेक प्रान्तों से रामोपासकों का आगमन हुआ। रसिकोपासना की एक धारा के प्रवर्तक सूर

शोध छात्र, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

किशोर हुए, जो औरंगजेब के समय विद्यमान थे। ये राजस्थान से मिथिला आये थे। यवन शासकों के अत्याचार से तंग आकर सूर किशोर ने मिथिला में रामोपासना प्रारंभ की थी। "मिथिला विलास" नामक अपने ग्रंथ में उन्होंने लिखा है -

कालिदास बढ़ो दल साजि चढ़ो सबवेद पुरान भये सिथिला।
साधु के ढौर असाधु रहै, सुथलाइय ढौर भये कुथला।।
वरनाश्रम धर्म अचार गये, द्विज तीरथदेव भये निथला।
जब ढौर न और मिली जग में तक सूर किशोर तकी मिथिला।।

सूर किशोर के पटशिष्य मामा प्रयाग दास थे, जो जनकपुर में ही रहते थे। इन्होंने सीता को बहन और राम को बहनोई मानकर भावोपासना की। कहा जाता है कि एक बार मामा प्रयागदास सान्ध्य बेला में अयोध्या के कनक भवन में गए। उस समय कनक भवन के आस-पास वन सा दृश्य था। मंदिर के पुजारी ने सायंकालिक आरती के पश्चात् सीताजी की प्रतिमा से आभूषणों को उतार लिया था। प्रयागदास ने देखा कि मेरी बहन के शरीर पर एक भी आभूषण नहीं है। इसको देखकर वे रोने लगे और अपने बहनोई को वे मधुर गालियां देने लगे। उस समय कनक भवन के आगे एक नीम का पेड़ था, जहां एक खाट बिछी थी। वे उसी खाट पर सो गए और मिट्टी के बर्तन को उस खाट के तले में रख दिया और गाने लगे -

"नीम के नीचे खाट पड़ी है, खाट के नीचे करवा।
प्रयागदास अल बेला सोवे, रामलला के सरवा।।"

ऐसी मान्यता है कि निशीथ में उनकी बहन सीताजी सर्वालंकरण विभूषिता होकर तथा स्वर्णथाल में भोजन लेकर उनके सम्मुख उपस्थित होती है और कहती है कि हे भ्रातः! मेरे शरीर पर सारे आभूषण विद्यमान हैं। आपके बहनोई मुझे सदा प्रसन्न रखते हैं। भगवती सीता के दिए प्रसाद को प्राप्तकर प्रयागदास धन्य हो जाते हैं। एक बार अयोध्या में मेला लगा था। वहां के साधुओं ने प्रयागदास से मेला देखने का आग्रह किया। इस पर प्रयागदास ने कहा -

मुड़ियों ने परपंच रचा है हमें काम का मेले में।
प्रयागदास रघुवर को लेकर पड़े रहेंगे ढेले में।।

इसी मधुरोपासना की दूसरी धारा युगल प्रिया, युगलानन्द शरण आदि भक्त कवियों द्वारा प्रवर्तित हुई। इसी क्रम में काष्ठ जिह्व स्वामी कृत "जानकी बिन्दु" का भी उल्लेख किया जाता है। ये कवी नरेश ईश्वरी प्रसाद के गुरू थे। मिथिला की रसिकोपासना की परंपरा में श्री मोदलता जी का स्थान परम वरेण्य है। इसी कड़ी के परवर्ती रचनाकारों में "स्नेहलता", "श्रीनिधि" इत्यादि है।

प्रस्तुत है मिथिला की रसिकोपासना परंपरा के श्री लक्ष्मणशरण "मोदलता" का यह पद, जिसे स्वरलिपिबद्ध किया जा रहा है।

राग यमन, ताल-झप ताल पर आधारित गीत

मंगल करण गणेश देव प्रथम मनाइये
देव श्री राम सिया दुलहिन योग बनाइये।।
शंकर शुभंकर पद सिर नाइये।
देब सिय रघुवर के संयोग सुयोगं दिखाइये।।
शोर लागू गौरि गुसाऊंनि पग परूं प्रेम से।
देवी श्री रामलला दुलहा किशोरी दुलहिन,
मोरी को राखो सदा छेम से।।
बन्दौ श्री दिनकर देवा जो काया के नाह हे।
देवा हम कह वेग दिखाइये सियाराम व्याह हे।।
हाय जोरि मांगौ वर नाय माथ, दीजिए श्री रंगनाय हे।
तौलों रहे सिया के सुहाग जबैलौं महि अहिमाय हे।।
विनती करौ ग्राम देवा ओ देवी दया करू हे।
सिया रघुवर के संयोग दिखाय आनंद भरू हे।।
देव-पितर सम मांगहि 'मोद' वितनी करि हे।
देवा प्रकट असीसहिं मातु लेहि अंचल भरि हे।।

राग यमन का परिचय-

मध्यकालीन ग्रन्थों में यमन का उल्लेख मिलता है परंतु प्राचीन ग्रन्थों में केवल कल्याण दिखायी देता है यमन नहीं। आधुनिक ग्रन्थों में यमन एक संपूर्ण राग बताया है। लेकिन वास्तव में वह सम्पूर्ण नहीं

है। उसमें पंचम वर्जित है। कई बार पंचम का अल्प प्रयोग अवश्य किया जाता है और आजकल पंचम के इस प्रयोग ने यमन में अब महत्वपूर्ण स्थान ले लिया है। इसमें गान्धार, निषाद महत्वपूर्ण हैं जो कि वादी और संवादी भी हैं। जाति षाडव है और समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार है - नि़ रे ग, म ध नि, सां। सां नि ध, म ग, रे सा।

स्वरूप- सा, नि़ सा, रे सा नि़ ध़ नि़, म़ ध़ नि़ नि़, ध़ नि़ रे सा। नि़ रे ग म म ग, म ध नि म ध, सां, निरें सां, सां, नि ध नि, मध म, ग, म, ग रे ग, ग, नि़ रे सा। कई बार पंचम और षड्ज वर्जित करके गान्धार और निषाद का महत्व राग की विशेषता के रूप में दिखाया जाता है और यही सच्चा यमन है। यमन से ही यमनी और यमनी पूरिया राग निकले हैं।

स्वरलिपि

(ताल-झपताल)

स्थायी

नि़ रे-	ग ग रे	प म	ग नि़रे सा
मं गल	क र न	ग णे	श देव प्र
नि़ रे	सा परे सा-		
थ म	म नाऽ इये		
×	2	0	3

अंतरा

प ध	प नि रे	गं रे	गं रें गं
दे व	श्री रा म	सि या	दु ल हि
प घ	प म प	नि रे	सारे सा
न यो	ग व ना	5 5	इ ये 5
×	2	0	3

शेष अंतरा इसी प्रकार गाये जायेंगे।

संदर्भ :

1. मयंक डॉ0 कृष्णचन्द्र झा, मिथिला मयंक माधुरी, श्लोक प्रकाशन, दरभंगा (2010 ई0)
2. प्रसाद श्री जगन्नाथ जी, श्री सीताराम विवाह संकीर्तन, प्रकाशक कन्हैयालाल कृष्णदास, श्री रामेश्वर प्रेस (सं0 2007)
3. सरस संत (भइयाजी), श्री लाल रहस्य माधुरी व रामसिया, प्रकाशक वा0 लक्ष्मण प्रसाद, अमृतसर सं0 2031 (द्वितीय संस्करण)
4. प्रसाद श्री रामचरित्र रचनाकार, वैदेही विवाह, श्री लोक बंधु पुस्तकालय (जनकपुर रोड), श्री निधि।
5. रचनाकार मोदलता जी, मोदलता विवाह पदावली, मोदलता विवाह पदावली, सं. 2047 (1990ई0)
6. मिश्र शरतचन्द्र (संपादक) आधुनिक मैथिली साहित्य, मिथिला सांस्कृतिक परिषद, 1963 ई0
7. झा योगानन्द, स्नेहलता, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 2007 ई0

भक्ति संगीत की कुंजी-रामचरित मानस

पुनीता कुमारी

मध्यकाल के भक्त कवि संगीतकारों में तुलसीदास का एक विशिष्ट स्थान है। जनसामान्य में उनकी प्रतिष्ठा एक संगीतज्ञ कवि की अपेक्षा एक मर्यादावादी भक्त कवि के रूप में अधिक हुई है। कारण स्पष्ट है कि एक तो तुलसी के श्रद्धाभक्ति काव्य शिखर तक ऊंचे उठ गए साथ ही समाज में धार्मिक प्रतिष्ठा भी मिली। इस सच्चाई को कोई नकार नहीं सकता कि तुलसीदास के रामचरितमानस आज अधिक लोकप्रिय हैं। साथ ही तुलसी के संगीत पक्ष पर यत्र-तत्र लिखे गए कुछ आलेख मिलते हैं। परंतु उनकी लोकप्रियता जितनी रामचरित मानस से हुई है, उसके सांगीतिक पक्ष पर सर्वेक्षण अभी भी नगण्य है। तुलसीदास का युग संगीत का स्वर्णकाल है। सूरदास, मीरा के पदों पर रागों के नामोल्लेख से ऐसा भान होता है कि वे गायक भी थे। तुलसीदास ने अनेकों गीतिकाव्य की रचना की है और उन्हें राग की जानकारी न हो यह भी विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता है। इनके समय में अनेक प्रसिद्ध शास्त्रीय संगीतज्ञों तानसेन, बैजूबावरा, रामदास का यश फैल चुका था। अतः तुलसीदास पर साहित्यिक प्रभावों के अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत का प्रभाव भी पड़ा हो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

भक्ति काव्य की गेय परंपरा अति प्राचीन है। वैदिक ऋचाओं का गेय स्वरूप इसका प्रमाण है। महर्षि बाल्मिकी का रामायण, वेदव्यास प्रणीत महाभारत, जयदेव कृत गीत-गोविन्द, विद्यापति के गीत इसी गेय परंपरा से संबद्ध है। मध्यकाल के संतों, भक्तों का काव्य भी इसी गेय परंपरा कीं अगली कड़ी है। तुलसीदास के गीतिकाव्य में रामचरितमानस का विशेष महत्व है। उसे संगीत प्रेरित काव्य कहा जाए तो अतिश्योक्ति न होगी। रामचरितमानस में काव्यात्मक और संगीतात्मक तथ्यों का अनुपम मधुर मिलन दिखाई देता है वह आयास न होकर अनायास है। यही कारण है कि सामान्य जन से लेकर विशिष्ट विद्वानों तक रामचरितमानस के पद लोकप्रिय है। काव्य और संगीत का एकात्म स्वरूप ही इस ग्रंथ को जनमानस का कंठहार बना दिया और स्वान्तः सुखाय होकर भी तुलसीदास रचित रामचरितमानस 'सर्वजन हिताय' और 'सर्वजन सुखाय' बन गया। रामचरितमानस की शैली मानव के संवेदनशील और चिंतनशील भावों और अनुभूतियों को व्यक्त करता है। गेय काव्य की परंपरा लोक में प्रचलित लोकगीत एवं साहित्यिक गीत का ही एक अंग है। यह परंपरा आधुनिक काल में भी प्रचलित है। गेय काव्य की भाषा संस्कृत से चलकर ब्रजभाषा, अवधी आदि से होते हुए खड़ी बोली में पहुंच गई। रामचरितमानस मेरी दृष्टि में सांगीतिक कई विशिष्टताओं को दर्शाता है।

यह स्वर, राग, ताल, लय से निबद्ध है।

पदों में टेक वाले पदों का बाहुल्य है। जो संगीत के साथ कीर्तन और नर्तन की श्रेष्ट भूमिका को दर्शाता है।

पद सारगर्भित बिम्बपूर्ण और मौलिक हैं।

सभी प्रकार के रसों की सृष्टि होती है। किन्तु शांत रस का प्रवाह अभूतपूर्व है।

आंतरिक संगीत के अंतर्गत शब्द संगीत, लय और तुक इत्यादि तत्व आते हैं एवं बाह्य संगीत के मुख्य पांच तत्व भी समाहित हैं। बाह्य तत्व निम्न हैं-

1. काव्य में संगीत के अनुकूल लय योजना
2. काव्य में संगीत शैलियों का प्रयोग

शोध छात्र, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

3. काव्य में राग-रागनियों, नृत्यरूपों तथा तालों का प्रयोग,

4. काव्य में संगीत की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग

5. छंद विधान।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य से अधिक आंतरिक संगीत का समावेश रामचरितमानस में मिलता है।

प्रस्तुत है रामचरितमानस के चौपाई की राग में निबद्ध एक स्वर-रचना

भए विलोचन चारू अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।।
देखि सीय सोभा सुखु पावा।
हृदयँ सराहत बचनु न आवा।।

यह चौपाई राग विभास में स्वरलिपिबद्ध है। राग विभास का परिचय इस प्रकार है-

उत्तर भारतीय संगीत के प्रातर्गेय रागों में विभास एक प्राचीन ग्रंथोक्त एवं महत्वपूर्ण राग है। 'विभास' नाम प्रकाशवाचक है तथा सूर्य का नाम 'विभावसु' है, अतः 'विभास' नामकरण मे दोनों का सम्बन्ध सुसंगत होने से इस राग के गाने का समय सूर्योदय काल सर्वसम्मत माना जाता है। भरताचार्य ने एवं हनुमन्मत में विभास को हिन्डोल का पुत्र कहा गया है। मतान्तर की दृष्टि से विभास के चार प्रकार प्राप्त होते हैं-

1. पूर्वी थाट,
2. मारवा थाट,
3. भैरव थाट तथा
4. बिलावल थाटोत्पन्न विभास।

इनमें से पूर्वी, मारवा तथा भैरव थाटोत्पन्न विभास पं. भातखंडे जो कि क्रमिक पुस्तकों में प्रसिद्ध हो चुके है, उनमें से पूर्वी तथा मारवा थाट का विभास आजकल व्यवहार में अप्रचलित सा हो गया है। प्रचार में विशेषतः भैरव थाठ का विभास ही समाज में सर्वत्र सुनाई पड़ता है। बिलावल थाट का विभास ही प्राचीन माना गया है। सौराष्ट्र के सुप्रसिद्ध पं. आदित्यराम जो ने 'विभास' के वर्णन में लिखा है- "यहां निषाद-मध्यम वर्ज्य है, वह औडव रूप है, स्वर मिलाप में शुद्ध थाट है, शान्त रस है, सूर्योदय के वक्त इसका गाने का समय है। संगीत कलाधर ग्रन्थ में राजगायक पं. डॉ. शि. ने विभास के स्वर इस प्रकार लिखे हैं- "सा शुद्ध, रे तीव्र, ग तीव्र, प शुद्ध, ध तीव्र। गायन-दर्पण ग्रन्थ के रचयिता ने भी लिखा है- "विभास औडव राग है, गांधार ग्रह और पंचम न्यास है, प्रधान सुर गांधार है। ये राग 'भूपकल्याण' से मिलता है।

वर्तमान भैरव मे भैरव थाट का विभास प्रचलित है।

जब भैरव के ठाठ सों, म नि सुर दिए निकास।
रि ध कोमल, संवाद ध ग, औडव-रूप विभास।।

यह भैरव थाट का राग है। इसमें ऋषभ, धैवत कोमल है और मध्यम, निषाद वर्जित, शेष स्वर शुद्ध हैं, अतः जाति औडव-औडव है। वादी धैवत व संवादी ऋषभ है। गायन समय दिन का दूसरा प्रहर है। यदि कोमल ऋषभ और कोमल धैवत से देसकार का गाया जाए तो यह राग बनता है। इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार है-

आरोह : सा रे॒ ग प ध॒ सां

अवरोह : सां ध॒ प ग रे॒ सा

स्थायी

प	-	प	प	ध॒	-	प	-	ग	प	ग	रे॒	सा	-	सा	सा
भ	ए	वि	लो	च	न	चा	रू	अ	चं	ऽ	ऽ	च	ऽ	ल	ऽ
ध॒	ध॒	ध॒	ध॒	सा	सा	सा	सा	ग	ग	रे॒	रे॒	सा	-	सा	सा
म	न	हुं	ऽ	स	कु	चि	नि	मि	त	जे	ऽ	दि	गं	च	ल
0				3				X				2			

अंतरा

प	प	प	प	ध॒	-	ध॒	ध॒	सां	सां	सां	सां	ध॒	रें	सां	-
दे	खि	सी	य	शो	ऽ	भा	ऽ	सु	ख	ऽ	ऽ	पा	ऽ	वा	ऽ
सां	सां	ध॒	ध॒	प	प	प	प	प	प	ग	रे॒	सा	-	सा	सा
हृ	द	यं	ऽ	स	रा	ह	त	व	च	न	ऽ	न	ऽ	आ	वा
0				3				X				2			

इसी प्रकार रामचरित मानस की सभी चौपाइयां छंदबद्ध एवं गेय हैं। इसे विभिन्न राग-रागिनियों में गाया जा सकता है।

संदर्भ :-

1. तुलसीदास गोस्वामी, रामचरितमानस
2. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास
3. सूद डॉ0 रमा, महाकवि तुलसीदास एक अध्ययन
4. पाण्डेय महादेव, तुलसी रचित।
5. मिश्र डॉ0 बलदेव प्रसाद, तुलसी दर्शन

संगीत सर्वोच्च कला

डॉ0 पुष्पवाणी

संगीत को गायन, वादन और नृत्य का समावेश माना जाता है। वादन और नृत्य में यद्यपि उपकरणों की आवश्यकता पड़ती हैं। परंतु गायन में किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह मानव कंठ से सहज ही बिना किसी आधार के उत्पन्न हो जाता है इसीलिए गायन को परमतत्व के निकट माना है।

जहां उन कलाओं की वाणी हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होती है वहां संगीत कला सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को प्रकट करने में समर्थ है। संगीत द्वारा उन भावों को भी पूरी समग्रता के साथ, व्यक्त किया जा सकता है जो कल्पनातीत है। संगीत कला अपनी इसी शक्ति के कारण लोगों को शताब्दियों से आश्चर्यचकित करती आ रही है।

चित्रकला को वस्तु कला और मूर्ति कला जैसे कठोर माध्यमों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें चित्रकार रंगों, तूलिका व कैनवास आदि माध्यमों का आधार लेकर भावों की अभिव्यक्ति करता है। चित्रकार को अपनी कला की सूक्ष्मता को दिखाने के लिए मूर्तिकार से अधिक कौशल से काम लेना पड़ता है।

काव्य कला को मूर्तिकला एवं चित्रकला की अपेक्षा अधिक महत्व प्राप्त है। काव्य कला का माध्यम है भाषा, शब्द। इन दोनों की ही सहायता से काव्य-निर्मिति होती है। इसमें मन के भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द की आवश्यकता होती है। काव्य का यह शब्द समूह भिन्न व्यक्ति समूह के लिए भिन्न-भिन्न होते हैं। इन्हीं संकेतों से भाषा चलती है अर्थात् प्रत्येक समाज में भाषा अलग-अलग होती है। इस कारण प्रत्येक भाषा का साहित्य प्रत्येक समाज में समझा नहीं जा सकता अर्थात् काव्य को समझने के लिए भाषा की सीमितता उत्पन्न हो गई। शब्दों को भावों का प्रतिनिधित्व दिया गया है जब भावों के इन प्रतिनिधियों से बनने वाली भाषा का बंधन काव्य में आ जाता है तब उसका माध्यम भी स्थूल बन जाता है। शब्द मानव निर्मित है। वे अपने आप में पूर्ण नहीं है। शब्द यद्यपि वाणी के नाद से संबंधित है फिर भी काव्य में शब्दों का सहारा होने के कारण मूर्त माध्यम का आधार पूर्ण रूप से छोड़ा नहीं गया है। इस कारण काव्यकला यद्यपि वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला से उच्च है, परंतु सर्वोच्च नहीं है। साहित्य में भले ही ललित साहित्य का सर्वोच्च स्थान माना गया है। साहित्य की अपेक्षा संगीत की श्रेष्ठता में यह कहा जा सकता है कि काव्य में अनेक संतुलित शब्दों के योग से जिन भावों की सृष्टि होती है, संगीत में उन्हीं भावों को कुछ स्वरों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। यद्यपि गायन में शब्दों का प्रयोग किया जाता है पर संगीत के अंतर्निहित भावों के स्पष्टीकरण अथवा श्रोताओं के हृदय में रस उत्पन्न करने के लिए हर समय शब्दों का सहारा लेना आवश्यक नहीं होता। श्रोताओं को प्रभावित करने में एक कुशल वादक भी उतना ही समर्थ होता है जितना एक कुशल गायक।

पूर्व शोध छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

अन्य कलाओं की अभिव्यक्ति का आधार प्रायः स्वयं संवेद्य (स्वयं अनुभव करने योग्य) न होकर परसंवेद्य होता है। अतः उन कलाओं में कलाकार हमारे सामने जिस सत्य का प्रकटीकरण करते हैं उनका संबंध हमारे मन से नहीं अपितु हमारे बुद्धि स्तर से होता है। अतः उन कलाओं के साथ अंतर्भूत होना अनिवार्य नहीं। परंतु संगीत का विषय श्रोता का अपना ही अंतःकरण है। संगीत के अंदर ताल से चलनेवाली नियमित गतियों का आत्मा से निकट संबंध है। यही कारण है कि संगीत में जो लोच, माध्य पूर्ण है वह हमें बाह्य जगत से खींचकर अंतर्मुखी बना लेता है और हम चरम आनंद में लीन हो अपना अस्तित्व कुछ समय के लिए भूल जाते हैं।

इन्हीं कारणों से संगीत कला को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। संगीत की भाषा विश्व की भाषा है। जहां भाषा मूक हो जाती है वहां संगीत की भाषा मानव मन की स्वाभाविक अनुभूतियों को प्रकट करने में समर्थ होती है। इस प्रकार कलाओं के मूर्ताधार तथा माध्यम को देखते हुए संगीत कला को सर्वश्रेष्ठ मानना पड़ता है।

संदर्भ :

1. कुलकर्णी डॉ0 वसुधा, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1990 ई0
2. शर्मा डॉ0 सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 1996 ई0
3. शर्मा डॉ0 स्वतंत्र, ''भारतीय संगीत-वैज्ञानिक विश्लेषण'', प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली तृ0सं0 1996 ई0
4. आचार्य बृहस्पति, भरत का संगीत सिद्धांत, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग लखनऊ 1956 ई0

समस्तीपुर की संगीत कला साधना इतिहास के आइने में

सुमन सौरभ

वर्तमान समस्तीपुर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विद्वान इतिहासकार प्रो. हरेन्द्र सिंह 'विप्लव' ने ''मिथिला राज्य और भाषायी विस्तार वाद'' नामक अपनी निबन्ध पुस्तिका में लिखा है कि - तिरहुत के शासकों की कमजोरी का लाभ उठाकर बंगाल के शमशुद्दीन हाजी इलियास (सं. 1625-1651) ने तिरहुत को अपने अधिकार में कर लिया। शमशुद्दीन हाजी इलियास ने बूढ़ी गंडक नदी के किनारे एक शहर बसाया जिसका नाम ''शमशुद्दीनपुर'' रखा और इसी शमशुद्दीनपुर का नाम बिगड़ते-बिगड़ते समस्तीपुर हो गया। समस्तीपुर एक जिला के रूप में 14 नवम्बर 1972 ई0 को अस्तित्व में आया। इसके पहले यह दरभंगा जिला का एक अनुमंडल था, वर्तमान में इसके उत्तर दरभंगा, दक्षिण में पटना, पूरब में बेगुसराय, पश्चिम में मुजफ्फरपुर तथा वैशाली जिला है। प्राचीन काल से ही यह इलाका बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न रहा है। इस क्षेत्र के लोग अपनी बौद्धिकता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। मान्यताओं के अनुसार महाकवि विद्यापति के हठ पर गंगा अपने स्थान से हटकर इनके निकट आ गई थी, वह पवित्र स्थान समस्तीपुर में ही है, जो इस समय ''विद्यापति नगर'' के नाम से जाना जाता है। आधुनिक समय जिसे हम पूसा के नाम से जानते हैं उसी के ओइनी गांव में मिथिला की प्राचीन राजधानी थी, जिस कारण ही ये राजवंश ''ओइनवार'' राजवंश कहलायें। महान नैयायिक उदयनाचार्य समस्तीपुर के रोसड़ा अंतर्गत ''करियन'' गांव के रहने वाले थे, जिन्होंने न्यायपरिष्ट, किरणावली, तात्पर्यपरिशुद्धि, आत्मतत्वविवेक, न्यायकुसमांजलि, लक्ष्मणमाला, न्यायाकुसुमांजलि-कारिका, लक्ष्मणावली आदि सार्थक ग्रन्थों की रचना की। गुदड़ी के लाल महान समाजवादी नेता कर्पूरी ठाकुर समस्तीपुर के पितौझिया गांव के ही थे। अपने समय में राष्ट्रीय राजनीति के चाणक्य के नाम से चर्चित बाबू सत्यनारायण सिंह इसी जिला के शम्भूपट्टी गांव के रहने वाले थे। ''मदनवात्सायन'' के नाम से साहित्य जगत में प्रसिद्ध लक्ष्मी निवास सिंह का पैतृक गांव विद्यापति नगर के थाना अंतर्गत ''गढ़ सिसई'' है, जिनकी काव्य कृति ''तीसरा सलक'' साहित्य की अनुपम संग्रह मानी जाती है। कृषि क्षेत्र में अपनी वैज्ञानिक प्रयोगों एवं उन्नत प्रजाति की खोज के लिए ख्यात राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय इसी जिला के पूसा में अवस्थित है।

देश की स्वतंत्रता संग्राम में भी इस क्षेत्र के देशभक्तों ने बढ़-बढ़कर हिस्सा लिया। जिनमें बासठ स्वतंत्रता सेनानियों के नाम लिखित रूप से उपलब्ध है। पुरातात्विक दृष्टि से भी समस्तीपुर का ऐतिहासिक महत्व है, जिनमें प्रमुख है-नवपाषाणकालीन पुरास्थल के रूप पांडव स्थान, सुल्तानपुरधटहो, कमरांव, ओरियामा का नाम उल्लेखनीय है। इसी प्रकार बौद्ध कालीन स्थलों में लगमा, सोठगामा, भंद्रिका, महिसारी, मंदा, आदि स्थानों की पहचान की गई है। मौर्यकालीन पुरास्थलों के रूप में मउधनेशपुर, चकदौलत, अजनौल, नगरगामा, रामपुरजलालपुर, बम्बैयाहरलाल, समर्थाविशनपुर, दढ़िया, चैता, केवस, मोरदीबा, देसुआ, मंगलगढ़, सिंधिया आदि है।

अनेक सामाजिक एवं विकासात्मक प्रयासों के साथ संगीत आदि कला की साधना में समस्तीपुर का अपना एक विशेष महत्व रहा है, जिसमे से एक से बढ़कर एक शास्त्रीय एवं लोकसंगीत के गायक, वादक, नर्तक, नाटककार हो चुके हैं, जिनकी संगीत साधना के लिए लोग आज भी याद करते हैं और जिन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर समस्तीपुर को एक अलग पहचान दिलायी है।

यमुना प्रसाद चौधरी, पखावज वादक

स्वर्गीय यमुना प्रसाद चौधरी एक सिद्धहस्त पखावज वादक थे, जो समस्तीपुर के मुसरीघरारी के निकट 'रूपौली' गांव के जमीन्दार थे, जिन्होंने दलसिंहसराय स्थित बड़ी ठाकुरबाड़ी के महंथ ठाकुर दास से पखावज की शिक्षा पायी थी। यमुना बाबू आकाशवाणी के बी हाई श्रेणी के पखावज वादक थे, इनका कार्यक्रम पटना से प्रसारित होता था। दरभंगा में आकाशवाणी की स्थापना के बाद यमुना बाबू के कार्यक्रम दरभंगा से प्रसारित होने लगे, इन्होंने अपने समय के सभी प्रसिद्ध ध्रुवपद गायक के साथ संगति की थी, जिनमें स्वर्गीय रामचतुर मल्लिक, स्वर्गीय सियाराम तिवारी, स्वर्गीय विदुर मल्लिक आदि प्रमुख है। यमुना बाबू के शिष्यों में सकरपुरा हसनपुर रोड के स्वर्गीय छोटो बाबू वर्तमान में इनके प्रमुख शिष्य इनके नाती दिल्ली प्रवासी नेत्र चिकित्सक डॉ. अनिल चौधरी है, जो आकाशवाणी दिल्ली के कलाकार हैं।

पंडित चन्द्रकान्त झा, गायक

ताजपुर मोरबा के पंडित चन्द्रकान्त झा एक सुघड़ गायक हुए हैं, जिन्होंने ग्वालियर घराने के पं. सीताराम हरिदाण्डेकर जी से गायन सीखा था, जो आगे चलकर नृत्य मंडली का संचालन करने लगे, इनके प्रमुख शिष्यों में स्वर्गीय हरिमोहन गिरि 'गायक' बथुबा के गजाधर गिरि 'गायक' गदोपुरा के विष्णुदेव भंडारी 'नर्तक' पंडित जी की नृत्य मंडली के नर्तक राग रागिनियों पर आधारित गीतों, पदों पर नृत्य करते थे, पूरा मिथिलांचल इनका कार्य क्षेत्र था।

नन्हकू बाबू, तबला वादक

ग्राम पटसा के जमींदार स्वर्गीय नन्हकु बाबू जो बड़े ही सुघड़ व्यक्ति थे, नवोदित कलाकारों के प्रति स्नेह भाव रखते थे, इन्होंने सर्वप्रथम तबला की शिक्षा बनारस घराने के इलाही बक्श से हुई थी, आगे चलकर नन्हकुबाबू ने बनारस घराने के अनोखेलाल जी के प्रमुख शिष्य रमेश महाराज से बनारस घराने के तबला वादन की विधिवत् शिक्षा पायी, रमेश महाराज ने इन दिनों अपना कार्य क्षेत्र खगड़िया को ही बनाया था। नन्हकु बाबू ने इस क्षेत्र में तबला वादन को प्रोत्साहित किया। इनके प्रमुख शिष्यों में श्री रामलखन महतो एवं सकरपुरा के पंडित रामनरेश राय अवकाश प्राप्त तबला वादक महिला कॉलेज समस्तीपुर प्रमुख है, रामनरेश राय एक सहृदय कलाकार गुरू के रूप में चर्चित है, इन्होंने तबला शिक्षा के लिए 'ताल दर्शन मंजरी' के नाम से दो भागों में पुस्तक प्रकाशित किया है, जो तबला के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

नन्दकिशोर झा, मृदंगाचार्य

विद्यापति नगर के बस्ती बढ़ौना के नन्दकिशोर झा 'मृदंगाचार्य' एक प्रसिद्ध कलाकार हुए है। जिन्होंने अयोध्या के गोपाल दास से मृदंग की शिक्षा पायी थी, नन्दकिशोर झा का परिवार सात्विक था। गोपाल दास जी इनके घर महीनों आकर रहते थे, इनके घर के निकट पूर्वजों के बसाये हुए शिव मंदिर पर संगीत की बैठकें होती थी, जिसमें दस गांव के आस-पास के संगीत प्रेमी आते थे तथा संगीत का रसास्वादन करते थे, इस ग्रांमांचल के शास्त्रीय संगीत के प्रचार में इनका महत्वपूर्ण योगदान माना जाएगा। लोग बताते हैं इनका देहावसान लगभग तीस बरस पूर्व हो गया, इनके पुत्र नरेन्द्र झा को संगीत की प्रेरणा अपने पिता से ही मिली। नरेन्द्र झा संगीत शिक्षक थे, इन्होंने अपने क्षेत्र के कई लोगों को संगीत की शिक्षा दी। नरेन्द्र झा का देहांत पिछले वर्ष हो गया।

डॉ0 रामबिहारी सिंह (वादक एक वाद्य अनेक)

उजियारपुर करिहारा गांव के रहने वाले डॉ0 रामबिहारी सिंह नाम के एक अदभुत कलाकार हुए हैं जो विभिन्न प्रकार के वाद्य बजाने में प्रवीण थे, वे धुंधडु तरंग, काष्ठ तरंग, जल तरंग, बांस तरंग, तबला, हारमोनियम, बांसुरी आदि कुशलता से बजाने में साथ एक सुरीले गायक भी थे, तथा अपनी नृत्य मंडली चलाते थे। पूसा क्षेत्र के प्रसिद्ध गायक स्व0 रामाश्रय पोद्दार रामबिहारी सिंह की मंडली में रहते थे, डॉ0 रामबिहारी सिंह को बहुत पहले ही लोगों के द्वारा वादक एक वाद्य अनेक की उपाधि मिल गई थी, इनका वादन इतना प्रभावशाली होता था कि ये कार्यक्रम के सिलसिले में व्यस्त ही रहा करते थे, नामी गिरामी बाइयों के कार्यक्रम इनके सामने फीके

पड़ जाते थे। अपने क्षेत्र के गांवों के इनकी प्रस्तुतियों से संगीत का खूब प्रचार हुआ।

गायक सत्यनारायण चौधरी एवं प्रभुनारायण चौधरी

दलसिंहसराय अनुमंडल के अंतर्गत रामपुर जलालपुर के एक गुणी गायक हुए हैं। सत्यनारायण चौधरी, जिन्होंने पचगछिया के प्रसिद्ध ख्याल गायक मांगनलाल से ख्याल गायन की शिक्षा पायी थी तथा अपने क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत का प्रचार किया, ये सभी प्रकार की चीजों गाते थे, इनके ही पुत्र प्रभुनारायण चौधरी भी एक सुधड़ संगीत शिक्षक थे, जिन्होंने अपने क्षेत्र के प्रतिभावन छात्र-छात्राओं को शास्त्रीय संगीत की शिक्षा दी। जिन्हें लोग ''प्रभु'' जी के नाम से जानते हैं। दो वर्ष पूर्व ''प्रभु'' जी का देहान्त हो गया, मृत्यु के समय प्रभु जी की आयु सत्तर बरस से अधिक थी।

देवकान्त झा (जे0डी0कैण्ट)

समस्तीपुर में एक अदभुत प्रतिभा सम्पन्न कलाकार हुए, जो विभिन्न प्रकार के गायिकी की अनुकृति कर लोगों को आश्चर्यचकित कर देते थे, इनका नाम था देवकान्त झा जिन्हें लोग जे0डी0कैन्ट के नाम से जानते थे। ये एक प्रतिभा सम्पन्न गायक थे, सिंघिया के सम्पन्न ब्राह्मणों के गांव 'वाडी' के रहने वाले थे, ये नाक से शहनाई की आवाज निकालते तो दूर से सुनने पर शहनाई का भ्रम हो जाता था, लगता था मानों बिसमिल्लाह खां का रिकार्ड बज रहा है, देवकान्त जी नटराज कम्पनी से भी जुड़े हुए थे।

कमलेश्वरीसिंह 'कमलेश' नाट्ककार

समस्तीपुर जिला के इतिहास प्रसिद्ध कलाकारों को स्मरण करते हुए अगर सिंघिया के कमलेश्वरी सिंह 'कमलेश' को याद नहीं किया जाए तो यह अधूरा ही माना जाएगा।

मेरे निदेशक डॉ0 वेदप्रकाश जी ने बताया कि कमलेश जी का व्यक्तित्व अत्यंत ही आकर्षक तथा प्रभावशाली था, दरमियानी कद दोहरा बदन कंधे तक लटकती घुंघराली लम्बीबाल, चुस्त पैजामा पर कामदार कुर्ता पहने कमलेश देखने से ही कलाकार लगते थे, कोई भी व्यक्ति उनकी सामान्य बातचीत से ही प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। इस क्षेत्र के पृथ्वीराज थे, नाटक से लेकर फिल्मी दुनिया के अपने समय के कई नामी-गिरामी कलाकारों से उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध था, कमलेश जी एक सच्चे कलाकार थे। सुरीली आवाज, गाते भी बढ़िया थे, 'नटराज नाट्य कला परिषद्' नाम से उनकी नाटक कम्पनी थी, जिसमें देश भर के चुनिंदा कलाकार मुलाजिम थे, जैसे जुवैदा, दुर्गावती लामा, गोविन्द जिद्दी, संगीतकार मास्टर ईसमाईल, भगवान प्रसाद, वासुदेव सिंह, जे0डी0कैन्ट आदि। कमलेश जी स्वयं अभिनय भी करते थे, वे एक निदेशक, लेखक, अभिनेता थे। फिल्मी दुनिया में माया गोविन्द नामक गीतकार 'नटराज' थियेटर से ही गए थे। इनके कालजयी नाटक थे, कारण काल किनारा, कफन, देवर-भाभी उस समय के संयुक्त बिहार में नटराज थियेटर ने लगभग तीन हजार से उपर अपनी प्रस्तुति दी थी। इसके अतिरिक्त कलकत्ता, बम्बई आदि महानगरों के मंचों पर इनकी नाट्य प्रस्तुतियों को लोगों ने सराहा था। नब्बे दशक के आरंभ से पूर्व ही 'नटराज नाट्य कला परिषद' बन्द पर गया, जीवन के चौथेपन का समय कमलेश जी संस्कार भारती के गठन में लगा दिया था। जगह-जगह प्रवास कर इसके प्रचार-प्रसार में जुट गए थे, इन दिनों इनका मुख्यालय मुंगेर नगर के युवा व्यवसायी निर्मल जी के आवास पर ही था, निर्मल इन्हें पिता की तरह सम्मान देते थे। वर्ष 2000 ई0 के आस-पास हृदय गति रूक जाने के कारण मुंगेर में ही कमलेश जी का देहांत हो गया। ऐसे अनेक गर्भ में दबे हुए संगीत साधक, कलाकारों की उपलब्धियों को प्रकाशित करना आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. सिंह प्रो0 हरेन्द्र 'विप्लव', मिथिला राज्य और भाषायी विस्तारवाद, वैशाली प्रकाशन, वज्जिकाश्रम, वैशाली, प्रकाशन वर्ष-1996।
2. राय रामनरेश, ताल दर्शन मंजरी, भाग-1, पाठक पब्लिकेशन 27 महाजनी टोला, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-1998
3. 'क्षितिज' समस्तीपुर, जिला के 36वें स्थापना दिवस पर जिला प्रशासन द्वारा प्रस्तुत 'स्मारिका' प्रकाशन वर्ष - 2007

अद्‌भुत सितार शिल्पी पंडित निखिल बनर्जी

सतनाम सिंह

कला की सुन्दर रचना करने वाला कलाकार कहलाता है जो वास्तविकता को मौलिकता में बदल देता है। कलाकार के कलामय दृष्टिकोण से कला की श्रेष्ठ रचना होती है। वह अपने हृदय की अभिव्यक्ति को अपनी कला द्वारा प्रदर्शित करता है। विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व वाले व्यक्ति को जो अपनी प्रतिभा द्वारा कलाकृति की रचना करता है, श्रेष्ठ कलाकार कहा जाता है। निखिल जी के सितार वादन से भी ऐसी ही अनुभूति होती थी, मानो हर बार वे एक नवीन मूर्ति का निर्माण कर रहे हैं, जो अपने आप में पूर्ण है, निश्चल है, सौम्य है, उदात्त है।

पंडित निखिल बैनर्जी शास्त्रीय संगीत जगत् की महान विभूति थे। वर्तमान समय के सितारवादकों में आप अप्रतिम स्थान रखते थे। इनके सितार वादन को यदि हम अद्वितीय कहें तो कोई अतिश्योक्ति नहीं। भारतीय शास्त्रीय संगीत का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक प्रत्येक युग में संगीत संस्कृति को नवीन प्रासंगिकता, संगीत परम्परा में निरन्तर विकास, संगीत की प्रतिष्ठा एवं प्रवाहित परम्परा में अद्‌भुत पुनराविष्कार में किसी विशेष व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का योगदान रहा है। संगीत के संदर्भ में किसी संगीतज्ञ के योगदान का उचित मूल्यांकन अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण विषय है। अद्वितीय व्यक्तित्व, अपरिमेय विद्वता, स्वर ज्ञान एवं कलात्मक क्षमता एक ही व्यक्ति में इतना गंभीर और व्यापक ज्ञान निखिल जी की विशेषता थी। ऐसे संत संगीतज्ञ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय का विवेचन गागर में सागर भरने के समान है। शास्त्रीय संगीत के इस अद्‌भुत सितार वादक का जन्म 14 अक्तूबर सन् 1931 ई0 में कलकत्ता के एक संगीत प्रेमी ब्राह्मण परिवार में श्री जितेन्द्रनाथ बैनर्जी के घर में हुआ। जिसमें[1] संगीत को शौंकिया रूप से अपनाया गया था। निखिल जी के दादाजी शौंकिया तौर पर सितार बजाते थे। इनके पिताश्री जितेन्द्रनाथ बैनर्जी अपने समय के माने हुए संगीतज्ञ आशिक अली खां साहब के शागीर्द थे, इसलिए निखिल दा को संगीत विरासत में ही मिला था। परिवार में सांगीतिक माहौल होने के कारण बचपन से ही निखिल जी के मन में संगीत के प्रति जिज्ञासा थी और संगीत के गुण इनमें जन्मजात ही थे जिसे बचपन से ही इनके पिता जितेन्द्रनाथ ने ही निखारा। प्रायः पाँच दशक पूर्व शौकिया सितार-वादक जितेन्द्रनाथ ने अपने शिशु-पुत्र के हाथ में सितार दिया।[2]

सितार की प्रारम्भिक शिक्षा आपने अपने पिताजी से ही ग्रहण की। उस के उपरांत श्री वीरेन्द्र किशोर राय चौधरी से संगीत की विधिवत् शिक्षा ग्रहण की थी। छोटी उम्र से ही निखिल गंभीर प्रकृति थे आपने जल्दी ही सितार बजाने में काफी निपुणता प्राप्त कर ली थी। नौ वर्ष की अल्पायु में निखिल बैनर्जी ने पहली बार 'ऑल बंगाल सितार रिसाइटल' में अपना सितार वादन प्रस्तुत किया और अग्रणी रहे। इन्होंने कई महान संगीतकारों से विधिवत् संगीत शिक्षा

नाथ छात्र, संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्लीविश्वविद्यालय, दिल्ली।

ग्रहण की[3] थी, किन्तु इनकी सितार शिक्षा दो सरोदियों और दो बीनकारों से शिक्षा प्राप्त करके ही पूर्ण हुई- सरोदवादक उस्ताद अलाउद्दीन खां एवं उस्ताद अली अकबर खां तथा बीनकार श्रीमती अन्नपूर्णा देवी एवं वीरेंद्र किशोर राय चौधरी। ' आप एक भावुक एवं अद्वितीय कलाकार तथा निःस्वार्थ संगीत से वी थे। आप के वादन में आपकी परम्परा की विशेषताएं तो थी ही साथ में कुछ अपनी निजी विशेषताएं भी थी आपके वादन में गहन आध्यात्मिकता, मननशीलता का विकास था एवं तान क्रिया में वैचित्र्य और वैशिष्टय था जिस के कारण ही इनके पद विस्तार में द्विमुखी भाव लक्षित होता था। पं॰ निखिल बैनर्जी का सितार-वादन ओजपूर्ण एवं स्वच्छन्द कल्पना से युक्त वादन था। इनके वादन में गति और वेग था जो अपने प्रवाह से श्रोताओं को बरबस बाँध लेता था। इनकी वादन शैली की मुख्य विशेषता यह है कि उनके वादन में सुरीलापन लय की जटिल से जटिल तथा अति द्रुत लय में भी कायम रहता था। स्वरों की नई- नई रचनाओं की उपज, लयकारी और ताल में मिलाने की रीति मौलिक थी। उनके बाज में कहीं-कहीं सरोद अंग की छाया भी पड़ती थी। उनकी वादन शैली में सरोद और बीन के साथ-साथ दिग्गज गायक उस्ताद अमीर खां के गायन की छाया भी दिखाई देती है। अपने वादन में मेरूखण्ड की तान का प्रचलन[4] करनेवाले ये पहले सितार वादक थे।

पं॰ निखिल बैनर्जी वह पहले सितार वादक है जिन्होंने आलाप से लेकर झाले तक के वादन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। सितार अपने आपमें पूर्ण वाद्य है, इस कथन को करनी के रूप में प्रस्तुत करने वाले भारत में आप प्रथम सितार वादक थे। सितार की विभिन्न ध्वनियों के बारे में इनका कहना था कि सितार को अपने आपमें पूर्ण करने का प्रयास किया जाता रहा हैं, इसके रूप बदलते रहे हैं सितार के साथ आलाप में सुरबहार और सरोद के साथ आलाप मे सुर सिंगार बजता, किन्तु सितार के क्षेत्र का विस्तार किया गया, ताकि सितार में उन वाद्यों की ध्वनि निकल सके। उन्होंने बताया कि सितार में आलाप जोड़ के साथ बजनेवाला झाला, गत के साथ बजने वाले झाला से भिन्न है। विलम्बित में बीन की ध्वनि निकलती है और इसी से वातावरण बनता है एवं कलाकार के ज्ञान एवं गहराई का पता चलता है। जोड़ में रबाव की ध्वनि निकलती है, जिसके साथ पखावज के बोल बजते हैं, यह पहले नहीं था उस्ताद उलाउद्दीन खां साहब ने इसेशुरू किया था। इनके अनुसार सितार में खरज का तार, सुरबहार से लिया गया। परीक्षण में सितार को सम्पूर्ण बनाया गया। इस से सितार का दायरा बढ़ गया और प्रायः सभी बाज इस पर बजने लगे। निखिल बैनर्जी की एक स्वभाव गत विशेषता यह भी थी कि वे[5] तबला-वादक को बजाने का पूरा अवसर देते थे, उनका उत्साह बढ़ाते थे। निखिल बैनर्जी की यही कोशिश रही कि वह अपने संगीत भण्डार को अधिक से अधिक भरना चाहते थे। इसीलिए उनके जीवन काल में उनकी शिक्षा ग्रहण की धारा रूकी नही। निखिल बैनर्जी कहते थे कि उन्हें दुःख है कि वे कोई अच्छा संगीतज्ञ नहीं बना पाए। उनका विचार था कि जो भी उनके महाविद्यालय में संगीत सीखने आते है उनमें किसी को भी न तो 6-7 साल के लिए धैर्य होता है न ही श्रद्धा होती है। उन्होंने अपने दर्द से भरे अवलोकनात्मक निष्कर्ष को एकमात्र वाक्य में कहा "आज के युवा कलाकारो को यह जान लेना चाहिए कि किसी छोटे रास्ते से संगीत साधना का प्रयास सर्वदा निष्फल होगा। वह चाहते थे कि विर्धत आयु में अच्छे शिष्य तैयार किए जाये, उनका विचार था की कम उम्र के विद्यार्थियों को संगीत शिक्षा देकर अपने ज्ञान को बनाए रखेंगे।

'अमेरिकन सोसाइटी फॉर ईस्टर्नआर्ट्स' में शिक्षक नियुक्त होकर अमेरिका गए। कैलिफोर्निया स्थित 'अली अकबर कालेज आफ म्युजिक' में भी शिक्षक रहे। पंडित निखिल बैनर्जी को 1968 ई0 में 'पद्म श्री' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 1974 ई0 में आप को सगीत नाटक अकादमी सम्मान भी प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने मरणोपरान्त इस महान

कलाकार की कला का सम्मान करते हुए 'पद्मभूषण' से सम्मानित किया।[6]

मेहर से कलकत्ता लौटकर निखिल बैनर्जी ने 'तानसेन संगीत-सम्मेलन' में भाग लिया और उसी क्षण से संगीत रसिक समाज ने जान लिया कि एक नवीन ज्योति का उदय निखिल बैनर्जी के रूप में हुआ। भारत के समस्त संगीत सम्मेलनों के अतिरिक्त आकाशवाणी और दूरदर्शन के सभी केन्द्रों से निखिल बैनर्जी का सितार-वादन प्रसारित हुआ। सन् 1955 ई0 से भारतीय सांस्कृतिक मण्डल के साथ अनेक देशों का भ्रमण भी किया। विदेश यात्रा में अमेरिका, इंग्लैड, पश्चिम यूरोप, फ्रांस, रूस, पूर्वी यूरोप, चीन, आस्ट्रेलिया, अफगानिस्तान, नेपाल में भी इन्होंने अपनी अद्भुत कला का प्रदर्शन कर विदेशियों का मन मोह लिया। अधिकतर आप विदेश में ही रहे और वहां लोगों में प्रिय भी थे। इन्हें 'हिप्पियों' के लाड़ले सितार वादक निखिल बैनर्जी' कहा जाता रहा है।

अनेकों विशिष्टताओं के साथ पं. निखिल बैनर्जी का प्रभावशाली व्यक्तित्व एक विशाल सागर की भांति था। जिसमें नम्रता एवं उदारता की लहरें हिलोरे लेती रही। निखिल बैनर्जी मनः प्राण से बंगाली थे और बंगला-गान, विशेषकर रवींद्रसंगीत उन्हें बहुत प्रिय था। उन्होंने रवीन्द्रनाथ का गाना 'भालोबेसेस खीनिभृति यतने' कई बार सुनाया था। कीर्तन उन्हें बहुत प्रिय था और उसे उन्होंने 'समुद्र' कहा। वे तीन व्यक्तियों का पदाश्रय चाहते थे- चैतन्य देव, रामकृष्णदेव और बाबा उलाउद्दीन खां। संगीत जगत् के लिए दिए गए योगदान की दृष्टि से पं. निखिल बैनर्जी की तुलना नहीं की जा सकती। वस्तुतः वह सितार-वादन में एक नव वैचित्र्य ले आए थे, और उन्होंने अपने क्षेत्र में एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। सितार- वादन में उन्होंने जिस विशेष शैली का सूत्रपात किया वह अनुकरणीय है।

परन्तु काल ने उन्हें असमय ही उठा लिया। 27 जनवरी 1986 ई0 का दुःखद सवेरा था।

उसी दिन सितार वादक पं. निखिल बैनर्जी ने हृदयरोग के कारण असार संसार को त्यागा था। पचपन वर्ष इस जगत से उठ जाने की आयु नहीं है, फिर भी कौन कब चला जायेगा कोई नहीं कह सकता। इसी उम्र में वादक परिणति प्राप्त करता है, गंभीरता आती है, रूप रस की निष्पति होती है इसी उम्र में निखिल जी चले गये। इससे संगीत-जगत की कितनी क्षति हुई है इसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। निखिल के समान चमत्कारी शिल्पी के चले जाने से जो क्षति हुई है, वह अपूरणीय है।

संदर्भसूचीः

1. गर्ग लक्ष्मीनारायण, ' हमारे संगीत रत्न' पृ. 487
2. बावरा जोगिन्द्र, 'भारतीय संगीत के प्रमुख स्तम्भ', पृ.108
3. शर्मा शान्तनु, 'प्रतिष्ठित सितार एवं सरोद वादकों की साधना और संघर्ष', पृ.86
4. बावरा जोगिन्द्र, 'भारतीय संगीत के प्रमुख स्तम्भ', पृ.106
5. गर्ग लक्ष्मीनारायण, 'हमारे संगीत रत्न' पृ. 487
6. संगीत मासिक पत्रिका जनवरी 1986 पृ. 35

हिन्दी भक्तिपरक कृष्ण काव्य और संगीत

गरिमा गुप्ता

भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिकता का सम्बन्ध आदि काल से ही है। भारतीय जीवन में निहित आध्यात्मिक महत्ता के कारण ही यहां की संस्कृति में पनपने वाली प्रत्येक कला का उच्चतम ध्येय आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करना रहा है। भारतीय कला का प्रधान लक्ष्य पार्थिव आनंद की तृप्ति अथवा कोई वैश्विक लाभ या श्रृंगारिकता को उद्दीप्त करना और विष्योपभोग में प्रवृत्त करना नहीं माना गया वह तो भक्ति धर्म और उपासना प्रधान रही है।

मध्ययुगीन भक्ति सम्प्रदायों के भक्ति तत्व तथा काव्य पक्ष पर अध्येताओं का ध्यान केन्द्रित रहा है। विष्णुभक्ति के विग्रह राम और कृष्ण को अवतार रूप में पूज्य एवं अर्चनीय मानने वाले भक्त कवियों ने अपनी वाणी में जो सरस रचना की है, उसे साम्प्रदायिक क्षेत्र में वाणी साहित्य की संज्ञा दी जाती है। यह वाणी साहित्य केवल भक्ति और काव्य पर समाप्त नहीं होता। यह वाणी साहित्य गेय रूप में लिखा गया है अतः काव्य और भक्ति तत्व के साथ उसमें संगीत का भी पूरी तरह समावेश है। काव्य और संगीत का जैसा मणि-कांचन संयोग कृष्ण काव्य में लक्षित होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय साहित्य में कृष्ण काव्य की परम्परा बड़ी प्राचीन है। उस के स्रोत्र पुराणों, उपनिपदों ब्राह्मण ग्रन्थों और वैदिक संहिताओं तक में मिलते है। भारत की अधिकांश भाषाओं की पोपणकर्त्री संस्कृत-भाषा के काव्य साहित्य का बहुत बड़ा भाग कृष्ण काव्य से सम्बन्धित है। यद्यपि भारतीय धर्म साधना में असंख्य[1] अवतारों की कल्पना मिलती है किन्तु मुख्य अवतार दो ही हैं-राम और कृष्ण। इनमें भी कृष्णावतार की कल्पना पुरानी और व्यापक है। इस का प्रधान कारण श्री कृष्ण की लीला की बहुलता ही है। वास्तव में श्री कृष्ण का व्यक्तित्व इतना[2] महान् व्यापक आकर्पक और मधुर है कि उनकी आधार मानकर जितनी काव्य रचना हुई है उतनी किसी और मनुष्य अवतार के सम्बन्ध में नहीं हुई। मध्ययुगीन भक्ति सम्प्रदायों एवं सम्प्रदाय मुक्त कवियों ने अपनी भावनाओं को गेय पदों में रूपायित कर अपनी वाणी को उपास्य के प्रति संगीतमय बनाकर समर्पित किया है। उन भक्ति कवियों में साहित्य और संगीत के प्रति जो गहरा लगाव था वह आराध्य की प्रसन्न करने की पावन भावना के कारण ही था। कीर्तन भजन करने वाले भक्तजन काव्य शास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर रचना नहीं करते थे। गेय पदों की रचना करने के कारण उनकी वाणी में संगीत का स्वर ही नहीं, शास्त्र भी रहता था। जो भक्त शास्त्रज्ञ नहीं थे उनकी मौखिक परम्परा से संगीत का ज्ञान प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि उन्होने अपनी वाणी में राग निवद्ध पद रचना की है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तिपरक कृष्ण काव्य संगीत तत्व से पूर्णतया संश्लिष्ट है। क्योंकि काव्य का सबसे निकटतम सम्बन्ध संगीत से ही है।

संगीत अपने श्रुति मधुर प्रभाव से गायक और श्रोता दोनो को रस विभोर बनाकर मनोरम ध्यान लोक में पहुंचा देता है। फलतः कवि एवं भक्त

शोध छात्रा, संगीत एवं नृत्य विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

शास्त्रीय संगीत के माध्यम से ही अपनी पद रचना को भावमय एवं रसमय बनाकर पदावली को हृदयग्राही बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं। भारतीय

संगीत के उद्भव एवं विकास में "भक्ति" एक अखिल स्रोत शक्ति है एवं यही वह केन्द्र बिन्दु है जिसने संगीत की राग-रागिनियों तालों व ध्रुपद-धमार आदि विभिन्न गेय विधाओं में उनका कलात्मक पक्ष सजीव एवं सारगर्भित रूप में उभरा है। मध्यकाल में भक्ति संगीत आश्चर्य तीव्र गति से विकसित एवं विस्तारित हुआ[1] क्योंकि इस समय भक्ति संगीत का आधार शास्त्रीय संगीत था। प्रबन्धगान के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण जयदेवकृत "गीत गोविन्द" ग्रन्थ के पश्चात मध्य युग 'ध्रुपद' का युग कहलाया। ध्रुपद को भक्ति संगीत की धारा का एक प्रमुख स्रोत कहा जा सकता है मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में इष्ट का गुणगान ध्रुपद-धमार आदि गेय विधाओं पर आधारित स्वर लहरियों में किया जाता था। ब्रज के कृष्ण पदों में तो स्तुति अथवा भगवदाराधना अधिकांशतः शास्त्रीय संगीत के माध्यम से ही की जाती रही है। मध्यकालीन कृष्णकाव्य में संगीत संबंधी उल्लेख भी प्राप्त होते[2] हैं। कृष्णभक्ति कवियों ने संगीत संबंधी ग्रन्थों की भी रचना की है तथा कृष्ण काव्य के अंतर्गत वाद, ग्राम, श्रुति, मूर्च्छना, सप्तक सरगम, तान, औडव-षाडव, आरोही-अवरोही आदि शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कृष्ण काव्य में[3] राग-रागिनियों का विशेष प्रयोग मिलता है। जैसेः अनेक भांत 'राग रागिनी' अनुराग भरे उपजावे। (नंददास) छहों राग छत्तीसों रागिनी इक इकनी कें गावेंगी। (सूरदास) भाव कि सूरदास के द्वारा छः राग तथा प्रत्येक राग की छः-छः रागनियों का उल्लेख भी मिलता है। जिससे स्पष्ट होता है कि कृष्ण काव्य के प्रत्येक[6] कवि ने अपने काव्य में राग रागिनियों का प्रयोग किया है। कृष्ण भक्तिकालीन काव्य की वैज्ञानिक रूप से गवेषणात्मक समीक्षा करने से भी काव्य में संगीत के तत्व स्पष्ट होते हैं, रस-राग, राग-ऋतु और समय सिद्धांत राग की प्रकृति गुण और प्रभाव कृष्णकाव्य में पूर्णतया संश्लिष्ट है।

वर्तमान समय में कृष्ण भक्ति के अनेक सम्प्रदायों के संगीतज्ञ विद्यमान है जिनके माध्यम से देवालय संगीत की प्राचीन परम्पराओं एवं रचनाओं के क्रियात्मक स्वरूप का संरक्षण हो रहा है और स्पष्ट होता है कि कृष्ण हिन्दी भक्तिपरक कृष्ण काव्य और संगीत का घनिष्ट सम्बन्ध है जिसे कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्य में गायन, वादन एवं नृत्य तीनों के सफल संयोग द्वारा संगीत की परिभाषा को सार्थक कर दिया है।

संदर्भ सूचीः

1. गुप्ता उषा, 'कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत' पृ0 4
2. शास्त्री गिरिधारीलाल, 'हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' पृ0 1
3. सक्सेना राकेशबाला, 'मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत पृ0 11
4. वही पृ0 254
5. गुप्ता उषा 'कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत' पृ0 121
6. सूरदास, 'सूरसागर' भाग पहला पृ0 698

ब्रज का रासमंच और अभिनय

प्रियंका

ब्रजलीलाओं में अभिनय की परंपरा

ब्रज के वर्तमान रासमंच पर जहाँ नित्य रास में नृत्य और संगीत प्रधान होता है, वहां नित्य रास के अनंतर होने वाली भगवान कृष्ण की ब्रजलीलाओं में नृत्य और गायन के साथ-साथ अभिनय भी महत्वपूर्ण हैं। इस अभिनय परंपरा की विशेषता यह है कि रास का अभिनय शुद्ध भारतीय नाट्य सिद्धान्तों पर आध ारित है और उसमें संस्कृत की लोकधर्म और नाट्यध र्मी परंपराओं का अपनी विशिष्टताओं के साथ समन्वय दृष्टिगोचर होता है। भगवान कृष्ण की ब्रजलीलाओं के अभिनय की यह परंपरा, जिसका वर्तमान ब्रज का रास रंगमंच को यह परंपरा, जिसका वर्तमान ब्रज का रस रंगमंच प्रतिनिधित्व करता हैं, बड़ी प्राचीन और प्रागैतिहासिक हैं।

वर्तमान ब्रजरास में अभिनय तत्त्व के विकास का श्रेय श्री नारायण भट्ट को हैं। इसीलिए भट्ट जी के वंशज गोस्वामी जानकी प्रसाद भट्ट ने अपने ग्रंथ "नारायण भट्ट चरितामृत" में कहा हैं कि रास के इस रूप को प्रकट करने के लिए स्वयं भगवान की आज्ञा से नारद जी ने नारायण भट्ट के रूप में शरीर धारण किया था। भगवान का आदेश था कि :-

"सर्व लीलानुकरणं, कर्तव्यं में प्रयत्नतः।
यस्यां तिथो यद्दक्षं स्यात, लीलाकाले ममानद्य।।"

और इस आदेश का अक्षरशः पालन श्री नारायण भट्ट ने अपने जीवन काल में किया। इस प्रकार रासलीलाओं का श्रीगणेश इस ग्रंथ के अनुसार गोचारण, कालियादमन तथा दान और मान जैसी लीलाओं से हुआ। इन सभी लीलाओं की कथा पूर्णतः लोक जीवन के करीब हैं। ब्रज के इस रंगमंच के नायक गोप कुमार श्रीकृष्ण हैं जो लोकनायक भी हैं। कृष्ण कारागृह में जन्म लेते हैं और अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए विकसित होते हैं और अंत में सभी उत्पातों के कारण कंस मारा जाता हैं कंस की मृत्यु के बाद उनका संबंध लोक जीवन से टूट कर राजसी जीवन में जुड़ता है रास की कथा वहीं विश्राम करने लगती हैं। ऐसी दशा में कथावस्तु और नायक के आधार पर रास पूर्णतः लोकधर्मी मंच हैं।

रास का आंगिक और वाचिक अभिनय

रास के अभिनय में अंग संचालन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं। अभिनय की भावाभिव्यक्ति के लिए रास में उसकी अपनी मुद्राओं का प्रचलन हैं इस प्रकार रस में दर्शकों को मोह लेने की संस्कृत नाटक से कहीं अधिक क्षमता हैं रास में संवादों की कुछ इस प्रकार से बोले जाते हैं कि उसमें संगीतात्मकता बनी रहती है।

भगवान श्री कृष्ण का प्रवचन रास की अपनी मौलिकता है। दस या पंद्रह मिनट तक दर्शक कृष्ण के कुशल अभिनेता के इस एक पात्री भाषा में ही उलझे रहते हैं। यह परंपरा रास के वाचिक अभिनय की सामर्थ्य को प्रकट करती है।

रास के आंगिक अभिनय में हस्तमुद्राओं, नेत्र संचालन, ग्रीव संचालन, भ्रकुटिपात, मृदु मुस्कान आदि लोकधर्मी मुद्राओं का सहज और स्वाभाविक प्रयोग अभिनय में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का संपादन

संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

करता है। रास के संवादों में अभिधा के साथ लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का भी पूरा प्रयोग होता हैं। उदाहरण के लिए, रास में जब मनसुखा जी आकर अपनी अटपटी चाल से गोपियों के बीच में खड़े हो जाते हैं और कृष्ण संबंधी चर्चा चलने पर गोपी अभिधा में पूछती हैं कि गोपाल कहां है तो मनसुखा जी स्वयं अपने को ही गोपाल सिद्ध करते हुए कहते हैं कि 'जो गाय पाल सो गोपाल' तेरे गुपाल में का कोई सुरूवाद के पर लगे हैं सखी।' यह सुनकर सब दर्शक उनकी इस युक्ति पर मुग्ध हो जाते हैं।

रास में समाजियों का जो महत्वपूर्ण योगदान हैं वह भी वाचिक अभिनय के अन्तर्गत ही माना जायेगा। यह समाजी रास के सूत्रधार, निर्देशक और सहायक तो हैं ही साथ ही वे उसके प्रमुख गायक व वादक भी हैं।

भरत ने नाट्यशास्त्र में विस्तार से नृत्य व अभिनय की जिन मुद्राओं का वर्णन किया है उन मुद्राओं के स्वरूप भी रास के नृत्य और अभिनय में देखे जा सकते हैं, परन्तु भरत ने जिन मुद्राओं के नाम दिये हैं उनसे वर्तमान रसधारी सर्वधा अपरिचित हैं। नृत्य और अभिनय की अनेक प्राचीन मुद्राएं रास ने प्रचलित हैं परन्तु उनके रास परंपरा को ज्ञात नहीं है।

इस प्रकार रास में कायिक अभिनय की अनेक मुद्राएं परिस्थितियों के चित्रण में तथा दर्शकों के मनोविनोदा में अपना विशेष योगदान करती हैं।

रास के रस

जहां तक रस और रस के सहयोगी स्थायी तथा अन्य भाव, विभावों और अनुभावों की बात हैं वह भी रस में वास्तविक जीवन से ही आते हैं। वात्सल्य, श्रृंगार, भक्ति, हास्य, करूण और शांत-रस शास्त्रीय दृष्टि से रास के मुख्य रस हैं। वीर रस का भी रासलीलाओं में नाम मात्र के लिए समावेश होता हैं, परंतु यहाँ वह उभर नहीं पाता। कंस का कोई असुर जब कृष्ण के वध के लिए भेजा जाता है तो रस में वह भयानक रस की अवतारणा न करके रास दर्शकों के मन में स्थित हास्य की ही सृष्टि करता है जो उसके मरने के समय अट्टहास बनकर मुखरित हो उठती हैं। रास की अनेक लीलाओं में कंस खलनायक के रूप में आता है परन्तु वहां भी वीर या रौद्र रूप उभर नहीं पाता। कंस और उसके असुरों के साथ भगवान कृष्ण का युद्ध यानी वीर रस को शांत रस का उद्दीपक बनाने की एक चेष्टा हो ऐसा भासित होता है। इस प्रकार वीर रस, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक जैसे- रसों का वर्तमान रास में अभाव ही हैं।

श्रृंगार और वात्सल्य के विविध रूपों का जैसा उभार और विकास रासमंच पर संभव है वैसा श्रेष्ठ नाटकों में भी कठिन है। वास्तव में रास के मुख्य रस यहीं है और उनके सहयोगी रस के रूप में हास्य आदि रसों का रासमंच पर समावेश होता हैं, परन्तु रासमंच से उद्भूत श्रृंगार रस लौकिक नाटकों के रस में सर्वथा भिन्न और उच्चकोटि का है। इस मंच पर मानों सब रसों की चरम परिणति भक्ति और शांत रस में आभासित होती प्रतीत होती है, यह इस मंच की अलौकिक दिव्यता और विशेषता है, जो इसे लोकधर्मी नाट्य में कहीं ऊपर उठा देती हैं। रास में भक्ति, आस्था और समर्पण की जो एक अलौकिक दिव्यता की अनुभूति दर्शकों को मिलती है वह अवर्णनीय, अनुपम और अलौकिक हैं। यह अनुभूति किसी अन्य लोकधर्मी नाट्य तो क्या अच्छे-अच्छे नाटकों में भी प्राप्त नहीं होती। रास की यह एक ऐसी विशेषता है जिसने इस लोकधर्मी नाट्य को अलौकिक बना दिया है और इसकी इसी विशेषता के कारण बड़े-बड़े संत, महंत, राजमुकुट, विचारक और दार्शनिक भी इस मंच को सदैव श्रद्धापूर्वक नमन करते आये हैं और आगे भी करते रहेंगे।

रास में आहार्य अभिनय

संस्कृत नाटक के समान ही रास अभिनेता-प्रधान रंगमंच है। इस कारण अभिनेता के व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने के लिए रूप सज्जा, वेशसज्जा व स्वाभाविक मंचीय उपकरणों को रस में उचित महत्व दिया गया है। रास में सिंहासन एक अनिवार्य अंग है जो झांकी खुलने के समय से अंत तक स्थितियों के अनुसार रास की कथा के विकास के विभिन्न रूपों में प्रायः हाथ से लगाये गए पर्दे का सहयोगीा बना रहता हैं। इसके अतिरिक्त रासलीलाओं में वृक्षों, गमलों, पुष्पों आदि का पूरा उपयोग किया

जाता हैं। रास में प्रायः एक बार एक पात्र जो वस्त्र पहन लेता है उसे वह पूरी भूमिका में धारण किए रहता हैं। कभी-कभी कथा की आवश्यकता के अनुसार वंश परिवर्तन की परंपरा अपनाई जाती है। उदाहरण के लिए जब भगवान कृष्ण छपलीलाओं में गोपी-वेश धारण करते हैं तो उनके मुकुट के ऊपर साड़ी बांध ा दी जाती हैं, जो क्षण भर में ही छद्य के समाप्त होने पर मंच पर ही अभिनेता द्वारा खोल दी जाती है आहार्य अभिनय की दृष्टि से रास और संस्कृत नाटक में पूर्णतः साम्य हैं।

रास में सात्विक अभिनय

रास में सात्विक भावों का विकास चरमोत्कर्ष पर देखा जा सकता है। अक्रूर लीला या उद्धव लीला में कृष्ण के वियोग का प्रसंग आने पर पात्रें की आंखों के छलकते अश्रु दर्शकों की भी हुंकारी बंधा देते हैं। सात्विक भावों का पूर्णतः आस्वाद करके कृष्ण चरित की साक्षात अनुभूति प्राप्त करना ही रास के मंच की स्थापना का उद्देश्य था, इसलिए सात्विकता को तो रास की आत्मा ही माना जाना चाहिए। रास में ऐसी अनेक घटनाएं बराबर होती रही हैं जब रास के दर्शक रास देखते-देखते ही कृष्ण के प्यारे हो गये हैं।

इस प्रकार रास के रंगमंच में आज भी संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन की पूरी शैली समाहित हैं। यदि रास की नाटकीयता का अध्ययन करके हमारे नाट्य-निर्देशक संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन सूत्र खोजें तो यहां उनकी अधिकांश समस्याओं का समाधान हो सकता है। उन निर्देशकों को जो संस्कृत नाटक के स्वरूप को समझने के लिए 'कुडिअट्टम' और 'कुच्चीपुड़ी' की शरण में जाते हैं, रास की जीवित और जागृत नाट्य परम्परा को निकट से देखना और समझना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल रामनारायण, ब्रज का रास रंगमंच, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, नई दिल्ली प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1981।
2. इन्टरनेट द्वारा

Dance as a therapy for meeting cure of Various physical disorders

Smt. Smita N. Sathe

What is dance?

Dancing all over the world from stone aged men to the ballet dancer. It is an important and vast subject. There are no peoples who are without dances. The way people dance and their reason for dancing makes us a great deal about their way of living and thinking. We believe that dancing is an instinct. In other worlds something within each of us makes us dance. We "dance with joy", if any one brings us good news or we "dance with pain", if we bang our thumb with a hummer. The word "dance" and dancing come from an old German word "damson" which means to "stretch". All dancing is made up of stretching and relaxing. The muscles are tensed for leaping and then relaxed as we make what we hope will be a gentle and graceful landing. Dancing is expressing one emotion through movements disciplined by rhythm.

Dance is a conscious movement of body used to express an idea or emotion, which follow aesthetic tradition of a culture. It is a communication through organized movement. Dance in broader sense, any movement with the purpose. It is a coordinated movement. It makes life more meaningful and joyous even if you can't dance, because it is the only activity which involves body, mind, soul and space simultaneously.

Brahma gave the name 'Natya-Veda'. Natya-Veda includes all the art like music, dance and drama. This was the origin of art (dance). According to Hindu believe that the dance was created by 'Shiva' the lord of dance. It is a masculine dance. The concept of Shiva truly stands for a whole philosophy of life. Lord Shiva gives 108 karanas. Karanas are the concerted movement of the hands and feet. It can be defined as the coordination of movements of the hands and feet. It can be considered as the movement of the 'Angus' or body as a whole. Karanas are the basic units of the Nritta and form the foundation stone of Nritta. Actually karanas are resulted when the body and mind are united in dance.

What is acupressure?

Basically the meaning of acupressure is the treatment of symptoms by applying pressure with the fingers to specific pressure points on the body. Acupressure balances the body's energy by applying pressure to specific points along energy channels. The term "pressure" is

Lecturer (Bharatnatyam), Sarvajanik College of Performing Arts, Surat

misleading, since acupressure actually uses a very light teach. A practitioner uses for finger tips to make contact with the body. It's the location of the contact that is important, not the amount of pressure.

How is it that lightly touching the surface of the body can affect the balance of energy? Our soft internal organ systems (the viscera) are connected with the exterior of our bodies (the bones, muscles, flesh) by series of major energy channels, as well as by networks of small connecting vessels. Thousands of years ago Asian culture identified location on the body where this energy pathways are close to the surface. In fact, this points can now be located with electronic "point finders" that measure electrical skin resistance. Acupressure points have a lower electrical resistance than the surrounding skin. Basically acupressure is an ancient Chinese technique. The ancient Chinese believed that life energy 'Chi' flows through these meridians. In the healthy person the energy flow through meridians is on unobstructed. The Chinese believed that active point stimulation clears the meridians and improves the flow of energy.

How acupressure works?

Acupressure and acupuncture share the activity points the ancient Chinese developed system of active point stimulation over 5000 years ago. The active points are located on imaginary lines called meridians. Accordingly the points are referred to by the meridians they are located on and consecutive member of point on that meridian. Chemically different molecules but by coincidence, they have very similar 3 dimensioned shape. This similarity in shape allows morphine to bind the endorphin receptor, reduce pain and induce feeling of happiness, thus endorphin released by acupressure stimulation may lead to relaxation and normalization of body functions.

In the acupressure treatment whole body points come in to the foot. That is called palm of the leg. These points press can give the relief in pain. Apart from that these points can be press through the moments of legs by the dance. So we can see the process of relief from pain with both the technique.

Tips of the toes have the points of brain, which is called as pituitary gland. So this point press can help to cure the pain happening in the brain. Same as other fingers of the legs held the point of sinuses, eyes and ear. From that position little bit down the points like neck and lungs. So with pressure of these points can cure the related problems.

Dance can cure these problems with the movement of foot. According to Natyashatra there are 'Padabhedas' from which there are five, the 'Udghattitapada' standing of the tips of the toes and banging the heel on the ground. This should be done in 'Drutamadhyama' one or many time by folding the toes. I have tried to relate a few dance steps of bharatnatyam dance style which can be helpful for acupressure treatment. Through the pressing of the toes and fingers can cure the pain of that points through dance on that.

Apart from that there is a step which can help to press the tips of the toes call 'Kuddhitta-metta adavu'. In this step the dancer has to jump on toes and doing dance. There are other steps like 'Tat-tai-tam adavu, Tangad- tat-tat-dhinna adavu, Sarikal adavu, Ta-hat-jam-tari-ta adavu'

etc. adavus also doing with the jumping of the toes. So the jump on toes, automatically press of all the finger tips and give the bast solution for the relief from the pain.

In the middle part of the foot comes the points of stomach, heart, spleen, kidney, descending colon, liver, gall, bladder, intestines, ascending colon, sigmoid, bladder, appendix and thyroid. All these points can press and cure the problems through acupressure treatment.

Same way the dance can cure the problem through the steps, doing with whole foot like 'Tatta adavu (stamping with whole foot), Ta-tai-tai-tat adavu, Tat-tai-ta-ha adavu, Tat-tai-tam adavu, Tai-ya-tai-hi adavu' etc. Apart from that there are Padabheda, in which use whole foot like 'Sama and Agratalasanchara', in which accordingly feet placed on the ground in the normal way. This is used for natural posture and spreading out all the toes except the large one risings the heel, to be used for stamping the ground with force and dancing. During stamping whole foot can press all points of the foot and cure from that particular problem.

Now the last part of the foot is heel. Heel includes the sciatic nerve, sex organs, rectum, anus and spine.

During the treatment of acupressure, pressing of the heel muscles can cure the pain of above organs.

In the dance there are advus which directly concentrate on heel only like 'Taiyum-tat-tat-taiyum-ta- ha adavu, Ginnatom adavu, Dharikitatom adavu, Ta-hat-jam-tari-ta adavu' etc. So, pressing of heel muscles can cure from the pain of relating organs. Apart from that again the Padabheda doing through the heel, 'Ancita' keeping the heel on the ground, spreading the toes and lifting the foot. So, all this movements can give relief from the pain of the muscles.

In the treatment of acupressure whole body points also come in to the palm of the hands. If there will be give the proper pressure on the specific points can cure from the pain of that part of body. Same way in the dance therapy has lost of Mudras which can help to remove the problem. So, we can see that points of the palm.

Tips of the fingers include sinuses and brain points. So, pressing of the tips of the fingers can cure the pain of sinuses and brain related problems. Even if the acupressure also have some pointed tools for hands, that will give more effect on it.

Similarly in dance there can be used some Mudras which can help to pressure of that particular points that are Kapittha, Katakamukha, Hamsasyo, Simhamukha, Mukul etc. in Kapittha Mudra there is pressing of index finger with thumb, *in Katakamukha Mudra pressing of index and big fingers with thumb, *in Hamsasyo Mudra pressing of index finger with thumb, *in Simhamukha Mudra pressing of big and ring fingers with thumb, in Mukul Mudra pressing of all the tips of the palm. So, through the various mudras can help to solve the pain and give relief of that particular problem.

Now come to the main palm points of the hands include the points like eyes, ear, shoulder, lungs, stomach, heart, kidney, spleen, thyroid and parathyroid, pituitary gland, spine and pancreas intestine, bladder and liver. Pressing of all these points can relief from the pain through the acupressure treatment.

Same way in dance mudras can help to cure from the above body organ problems. Hastamudras automatically

pressing of the specific points, it is not different from the acupressure treatment. Mudras are given below:

Musthihasta pressing of palm with the tips of the fingers. So, automatically all points of palm and tips are pressing and give the relaxation to that body parts which have pain like heart, kidney etc.

***Bramarahasta** pressing of index finger to the palm and join the tips of the index finger with thumb. This situation is directly press of the palm and tips. So, it can be cure the eyes, lungs, sinuses and brain prolems.

***Kangulhasta** it means the pressing of ring finger inside to the palm and other fingers stretch outside. This mudra can cure the problem of ear and lungs.

***Chandrakalahasta** again pressing of last three fingers in side to the palm and stretching of index finger and thumb outside. So, this situation of palm can cure the problems of heart, kidney and lungs.

Apart from that the palm also includes little bit area of wrist. Wrist includes uterus, prostate, penis, ovary and testis which can be cure though the pressing of that points in the acupressure treatment. Same way in dance there are lots of movements doing by wrist. In that way changing of Mudras can help to give the exercise to the wrist and also solve the problems of pain regarding that body part.

Now I want to introduce the various points of the body in which pain happening during the various illnesses.

And also specify its treatment for cure, through the acupressure and dance therapy.

Acupressure point for shoulder pain and tension: acupressure point Tw14, in the front part of arms joint, in the anterior hollow formed when the arm is raised above the head, lower the arm when massaging the point so, it will cure your shoulder pain. Same way in the dance there is a steps of 'Dharikita-tom, Ta-tai-tai-tat, Tai-hat-tai-hi' etc., also gives to the shoulder exercise and relief from the pain. Even in the dance there are lots of exercise can help to relief the pain like moving the shoulder from front to back in a circle as well as back to front etc. *High blood pressure: acupressure point Tw15 on top of the shoulder blade to find the point go directly up from the nipple around the top of the trapezoid muscle and down to the top of the shoulder blade. Apply firm deep strokes of pressure in upward direction. The initial painful sensation will soon begin to subside. Accordingly in the dance the shoulder pain and high blood pressure can cure with the help of the movements of chest which are five in types. From that the 'Abhugna' chest movement will help for this pain for doing 'Abhugna' chest movement both the shoulders are drooping down and arms loosely held, while the back is arched outwards so, the trapezoid muscle is automatically press with this movement.

Acupressure point for wrist, nervous system, anxiety attacks and nervousness: acupressure point P6, for the treatment, on the interior side of the arm, in the hollow between the bones of the forearm, three fingers width above the wrist crease. Apply firm deep strokes of pressure in the direction of the palm the initial painful sensation will soon begin to subside. In the dance therapy the wrist works during the changing of Mudras like 'Alapadmaka to Katakamukha' etc. As well as the 'Natyarambha' position is also giving the lots of exercise to the wrist so, apart from these mudras there are lots many exercise for the wrist like roundly turn the wrist

clockwise and anticlockwise etc. It also cures the nervousness with the same movements of wrist which is given before.

Headache and migraine: acupressure point Liv3, on the top of the foot in the webbing between the big toe and the second toe. Apply firm deep strokes of pressure in upward direction. The initial painful sensation will soon begin to subside. Same as in dance, there is jump on toes is most important. At that time your whole body weight come to the toes and other fingers. So, the points get pressed during the jump. This step is called 'Kuddittamettu adavu' means jump on toes. It also teaches us to put the body balance on toes. So, the dance steps can cure the headache and migraine through the pressure of points of toes and also teach the body balance. Apart from that the other treatment in acupressure is, acupressure part GB20 just below the base of the scull, in the depression between two majors neck muscles, apply firm deep strokes of pressure in downward direction. In the dance therapy there are specific head movements which can help to cure the headache and migraine problems. There are thirteen abhinayas of the head **Akampita, Kampita, Dhuta, Vidhuta** etc., which helps to pressure of the points automatically and the headache as well as migraine problem will solve. There are also sub parts in the head which are eyes, nose, cheeks, lips, chin and neck. They have their own abhinayas can cure the problems of that specific parts.

Back Pain: acupressure point B23 (top), in the lower back, on the waist level, two fingers width away from the spine, in the whole between to vertebra. Apply firm deep strokes of pressure in downward direction. Acupressure point B25 (bottom), in the lower back four fingers width below the waist level, two fingers width away from the spine, in the hollow between to vertebra. Apply firm deep strokes of pressure in downward direction. In the dance therapy there are many steps helps to cure the back pain problems. During the dance, the dancer must put her back strait so, it helps to put the body balance during dance. Apart from that there are lots many steps in which dancer must have to bend with the back at front, side etc., steps like 'Taiyum-tat-taiyum-ta-ha, Tai-hat-tai-hi, Ta-tai-tai-tat adavus. During these steps back has to bend at various sides. These can help to put the back away from the pain because all the points are press through the dance.

Examples of bend in dance:

Cold and Flu - sinusitis, depression, earache, insomnia, memory and concentration: acupressure point GB20, just below the base of the scull, in the depression between the two major neck muscles. Apply firm deep strokes of pressure in downward direction. Same as in dance there are lots many neck movements. There are separate Mudras on neck called 'Greevabheda'. It has ten types of Mudras doing with neck which are 'Same, Udhvahit, Adhomakha, Dhrut' etc. So, automatically with the movements of 'Greevabheda' press the all neck points and give the relief from the pain. Depression can cure just below the base of the scull.

Hip pain: acupressure point GB29, in the acupressure treatment there is on the side of the hip, in the hollow midway between the top of the hip and the top of the femur born. Apply firm deep strokes of pressure. Initial painful sensation will soon begin to subside. In the dance therapy

there are the sides movements which are first in types from that 'Natta and Sammatta' movements will help to cure this pain. In this movement, hip and the side about it are curved and the shoulder held a little away it is 'Natta' and doing this movement at the other side is call 'Sammatta'. Through these movements the hip points are automatically press and the pain will cure.

So, finally dance can cure of various physical disorders just like acupressure treatment. Both have the same function that the pressing of the points through foot and palm but the way is different.

References :

- Haskell Arnold L., The story of dance, Ratibone Books Limited, London 1949
- Rangacharya Adya, The Natyasastra, English Translation with Critical Notes, Munshiram Manoharlal Publishers Private Limited, New Delhi1986
- Bhattacherjee Satya, Nandikeswara's Abhinaya Darpanam by Manmohan Ghosh, published by the Manisha Granthalaya Private Limited, Calcutta 1975
- Indian classical dance art
- Approach to bharatnatyam
- Internet website: www.soundsfelt.org (soundsfelt software for health)

Ten Pranas of Taal

कालमार्गक्रियाँगानि ग्रहजातिकलालयाः।
यति प्रस्तारकं चैव तालप्राणा .दा स्मृताः।।

Dr. Abhishek Tushar

According to this Sanskrit sloka, following are the ten Pranas of Taal: Kala, Marga, Kriya, Anga, Graha, Jati, Kalaa, Laya, Jati and Prastara. Prana menas life. As the name suggests, these are the ten most essential features of Taal. Even upto the present time, it is considered as one of the most important subjects because it ascertains the identity of a Taal in course of its application in various ways.

(1) Kala: It means division of time and is considered as first Prana. It literally signifies a phase or thereby a part of a whole, and thus, it has the function of a unit in the cycle of Taal. In metrical measure, a Kala is equivalent to the time taken by pronouncing a short vowel or the time of a winking of the eye and is equal to a matra.

(2) Marga: The second Prana, Marga means the different ways in which Taal can be expressed. In Natya Shastra, Bharat explained three Marga, Viz, Chitra, Vartika and Dakshina Marga. Later on Sharang deva added one Marga, Viz, Dhruva.

In the Chitra Marga, the time measure of a note was minimum i.e., two matras or one guru. Vartika Marga had double i.e., 4 matras time measure of a note. Dakshina style had the double time measure of a note than the vartika style i.e., 8 matras. The time measure of one note in Dhruva Marga was only one matra.

(3) Kriya: Kriya means expressing taal by various types of movements of the hand. There are two varieties of Kriya: (a) Nishabd Kriya (without sound) (b) Sashabd Kriya (with sound)

(a) Nishabd Kriya : There are four types of Nishabd Kriya.

(i) Avapa: Contracting the fingers of the hand stretched upward.

(ii) Nishkrama: Spreading the fingers of the hand downward.

(iii) Vikshepa: Projecting the hand towards the right spread fingers.

(iv) Praveshak: Contracting the fingers of the hand stretched downward.

(b) Sashabd Kriya: These operations are also called 'pata' or 'kala'. There are four types of Sashabd Kriya:

(i) Shamya: hitting with the right hand.

(ii) Tala: hitting up the left hand stretched up ward.

(iii) Sannipata: hitting with both hands simultaneously.

TABLA – PLAYER, UNIVERSITY DEPT. OF MUSIC, T.M.B UNIVERSITY, BHAGALPUR

(iv) Dhruva: Sharangdeva has mentioned one more operation which means bringing down the hand while striking the middle finger with the thumb. Now these Kriyas are out of use. At present, we only have 'Tali' and 'Khali' in use.

(4) Anga: The Anga is the component part of a taal made up of time units. At present, the taal vibhag or taal anga, generally has 2,3,4 or 5 matras but in ancient times it used to comprise of 1 matra also. Following 8 Angas were used in ancient Margi and Desi taals:

Name	Symbol	Matra
Anudruta	⌣	1
Druta	○	2
Druta Virama	⌣ ○	3
Laghu	|	4
Laghu Virama	⌣ |	5
Guru	ऽ	8
Pluta	ऽ३	12
Kaka pada	⌝	16

(5) Graha: The initial stroke where the instrumental piece begins or the initial word where the song is seized or the initial step at which dance starts is known as Graha. There are two types of Graha:

(a) Sama Graha: Taal and musical piece start simultaneously.

(b) Visham Graha: Musical piece start from any other matra than sama. It is further classified into two types:

(i) Atita: Taal commences after the commencement of musical piece

(ii) Anagata: Sama is shown before the commencement of a Taal.

(6) Jati : Units of time of a taal is known as Jati. This Prana is of immense use to the Karnatic taal system because a number of taals are created out of seven taals with the help of these Jatis. Following are the 5 different types of Jatis:

(a) Chatastra: Taal made up of 4 units. E.g. – Teentaal, Punjabi, Dhumali etc.

(b) Tisra : Taals made up of 3 units. E.g – Ektal, Dadra, Khemta etc.

(c) Misra : Taals made up of 7 units. E.g – Rupak, Ada Chouatal, Pasto etc.

(d) Khand : Taals made up of 5 units. E.g – Jhaptal, Sool Taal etc.

(e) Sankeerna : Taals made up of 9 units. E.g – Matta Taal, Laxmi Taal etc.

(7) Kalaa : In Karnatic Taal Paddhati, the small sub division of the Akshar kala is known as kalaa. There are 64 types of kalaa. Style and technique of playing an instrument is Kalaa. Method of sitting, tuning the instrument, displaying the art before the audience and giving maximum entertainment to the audience are the various constituents of Kalaa. Sangeet Ratnakar mentions the following 8 Kalaas: Dhruva, Sarpini, Padmini, Pataka, Kampana, Devka, Sambh-bhav and Visarjini.

(8) Laya : The speed or tempo of music and dance is known as laya. Duration of pause between the first and the next execution in laya. There are three types of Laya Viz. (a) Vilambit (b) Madhya (c) Drut. When pause is short, it is called druta laya. When pause is long.

it is Vilambit laya. When pause is neither quick nor slow, it is called madhya laya. Drut laya is double than Madhya laya and Madhya laya is double than Vilambit laya.

(9) Yati : The principle that determines the application of laya is called Yati. It is the principle determining the flow of movement or practical progression of rhythmic tempo. There are following 5 types of Yati:

(a) Sama : Even flow of tempo from beginning to end.

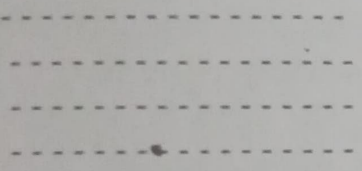

(b) Srotogata : Gradual increase of tempo i.e., slow in its start but gathers momentum later.

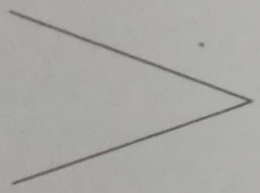

(c) Gopuchha : Gradual Decrease of tempo.

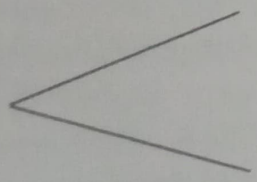

(d) Mridanga : Laya is first quick, then slow and then again quick.

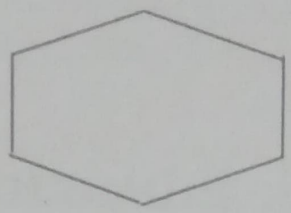

(e) Damaru/Pipilika: Laya is slow at the beginning and end and is quick in the middle.

(10) Prastar : it is the tenth Prana of taal. It is the extension of taal by reshuffling and repeating the Angas and Kriyas of a Taal so that monotony can be avoided and application of the same taal can be diversified. Chaturanga Prastar and Shadanga Prastra were the two methods of Prastar in ancient period. In modern music, these are rarely used. Dugun, tigun, Adi, Kuari, Palta, Pench, etc have come into practise.

References:

1. Gautam, M.R., "Evolution of Raga and Tala in Indian Music", Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1989
2. Narada, "Sangeet Makranda", Shloka no. 51.
3. Sengupta, Pandit Ashis, " Facets of Tabla Playing" Kanishka Publishers, Distributers, New Delhi, 2011
4. Shepherd, Frances Ann, "Tabla and the Banaras Gharana" Unpublished Ph.d Thesis, Wesleyan University, 1976
5. Singh, Dr. Thakur Jaideva : "Indian Music" Sangeet Research Academy, Calcutta, 1995

Music Education in North India

Santosh Kumar

Through music education the idea of oneness with the rest of the world can be instill to develop deeper understanding of the diversity of cultures that have contributed so much to the world of which each country is an inseparable part. Thus the purpose of music education must help the pupil to become one with the world. The democratic ideal of education is the maximum development of the child. He has also of course a definite social responsibility, for his development must not be at the expense of the social group of which he is a part.

In case of Indian tradition the system of music teaching and learning is Guru - Shishya Parampara (Teacher - pupil System), which is widely acceptable since ancient time. In this tradition of learning the pupil come to the teacher at the early age of his life for training in Gurukula. Objective of Gurukula was not only to teach music to the pupil. Over all development of the personality of the pupil was also developed in such Gurukulas. For this purpose the Guru were not only the scholar of music but they were qualified in Yoga, spirituality, languages, writings, speaking, organizer, Mathematics, Science, Discipline and many more antiquates to provide the pupil good knowledge. Here the Guru was really shaping the pupil in sculpture. But the process was not so easy. In the past the Guru used to give difficult test to the person before accepting him as his disciple. Thereafter the pupil was initiated to listen to the music of his Guru for a long period. From time to time the pupil received some tips in regard to practical aspect of music. Every little piece taught by Guru was to be given perfection by him. The pupil was given chance to accompany the Guru during his performance only if the Guru felt that his pupil has attained satisfactory standard.

In modern trained the Gurukula system is how much effective? For answering this question we must go for the modern need of the society. In this modern world for better development of a pupil a Gurukula must possess many of the basic things without which the complete shaping of a personality is not possible. These needs are like; good place with Musical instruments, library, listening room, developed electronic musical and

Research Scholar (NET-JRF), Instrumental Department, Faculty of Performing Arts Banaras Hindu University

technological equipments etc. to find such a big place in a city is much difficult. If one get then for its maintenance good money is required. It is not possible for a single man to acquire such amenities for Gurukula. Somehow a person gets help from any industrialist or political leader for developing Gurukula it is also dangerous, these people are not well trained in music but they will try to interrupt the working style of the Guru which will not give fruitful result regarding the objective of the Gurukula. And this can't be called as Gurukula. Gurukula means the family of the Guru where the Guru is the Head who governs his family of pupils along with his own family and moralize his disciples to become a good musician and scholar. There was no any system of fees in the Gurukula. Pupils were asked for the Gurudakshhina after the completion of the training. Whole expenditure of the family was the responsibility of the Guru. It means the Guru must be wealthier to run a Gurukula of modern time. But in this society this can't be imagine without any resource of funding.

On the other hand in current scenario is it possible for a parent to send his ward in such an early age for learning music to Gurukula? Does a pupil can attain such patience? Music is still not a respectable occupation in our society. Numbers of jobs are quite few in music field than how cans a middle class family move for this education?

Thus the Gurukula system for music education has been losing its identity. Nevertheless the importance of the music education cannot be denied. The new systems are developing in the society for a better musical future. But some research is needed in this area to replace this system but with its originality.

Now let's discuss the method of teaching music in institutionalized training which is in line with western – influenced classroom format of teaching that would equip students with preliminary knowledge about music.

The music education, especially in our schools, colleges and Universities as it has been introduced in present day is through a new subject but the ideas on the subject of music are changing at such a rapid rate, today that position of the teacher as an interpreter may receive some consideration. The study of the psychology and the many new discoveries in the realm of mind bid fare to revolutionize our conception of teaching. The old standards are becoming obsolete faster.

Effective teaching can be done to pattern for the simple reason that pupils are not machines or block of wood and cannot be turned out to sample. Every pupil is unique, he is the inheritor of a spirit which is peculiarly his own, and of a body in its endowment and proportions unlike that of anyone else. He possesses special predispositions and "potentially linked path" in his nervous system, which provides him with particular adopt abilities and traits.

In north India, efforts to institutionalize music education began in the second half of nineteenth century. In Mumbai, the students literary and Scientific Society established in 1848 by the professor and student of Elphinstone

College tried to include music in the academic curriculum of the school setup by the society. Later in Kolkata, the Bengal Music School established in 1871 by Sourindro Mohan Tagore, a musicologist and patron of Music. In the music school he taught vocal and instrumental music with the help of a system of notation.

These initial attempts met with limited success due to the lack of whole-hearted support from the Indian middle class. But the major impetus to institutionalization music education came from work undertaken by Vishnu Narayan Bhatkhande eminent musicologist and Vishnu Digambar Paluskar, a well known Vocalist and music educationist.

In contemporary situation music schools are mushroomed all over, many of which were privately run. A majority were affiliated to central institution like Gandharva Mahavidyalaya and prayag Sangeet Samitee. In order to provide universally recocnize certificates. But it is well known that the aim of these schools is to largely train 'kansen' and not 'Tansen'. Understandably, it would have been unrealistic to expect every student to be a great performer. But somewhere real music education is missing.

Universities offer diploma, and later, graduate and post-graduate degrees in music, but these too focus on art music. This lopsidedness in music education has mainly due to the absence of any review of the existing syllabi and methods of teaching and due to any empirical data collection at the student level. Some regular music schools and universities attempt at bringing about a change, but this is not a core transformation.

Do the syllabi and the teaching methodology really produce initiated listeners or they give rise to frustrated performers armed with voluminous musical materials, but virtually no performance skills?

The number of students studying at these music schools has grown exponently, and yet there are few performers and researchers of merit who have graduated from schools universities.

There are certain things which are not been implemented in India for the music education, if used then only at its symbolic receptiveness. The teacher of music must start with understanding, which is to develop pupils' four sensory capacities, i.e. the sense of pitch, the sense of loudness, the sense of timbre and the sense of Laya and Tal. From the first lesson he should be sure that his teaching is developing all of them at all stages. The need of educate and inform students of diversity of Indian music is imperative. At a time when the electronic media and the internet provide opportunities to student to access non-Indian musical forms and when such forms have become a part of the Indian musical reality, it seems strange that there is no composition approach to the study of jazz, rock and other non-Indian musical forms.

Different organizations like SPIC MACAY and Some of the State Governments with collaboration of Central government are trying to spread the music and its education among mass. Electronic media and other media of information are also helping the music to

propagate on its way. Number of schools, colleges and universities dedicated to music are opening gradually, which are determined to give a quality outcome for the society in the area of music. Numbers of student are also increasing till the university level for music education. The Indian music became much popular all over the world hence the musicians from India are welcomed by the people of world societies.

It is therefore, mix of the traditional and modern classroom method of instruction, or explicitly as per the Guru-Shishya parampara as in the case of ITC Sangeet Research Academy, Kolkata and Saptak School, Ahmedabad are most suitable in modern period. This can carry the goodness of tradition and shows the good future of the north Indian music.

Bibliography

1. Awasthi, S.S., A Critique of Hindustani Music and Music Education, Dhanpat Rai & Sons Publication, Delhi.
2. Sangeet Natak, Volume XLIII, Number 2, 2009
3. Sangeet Patrika
4. Sangeet kala Vihar, March 2008
5. Some internet sources.

Basis of Sangeet on Disease - Treatment

Pandit Ishwarchandra

Before we come to know, what is the BASIS of SANGEET in desease-treatment it is quite necessary to know what is SANGEET. In BHARATIYA SANGEET, is being considered as Bramsahodrividya and therfore NADA is being prayed considering it to be Nada-Brahma. Imagination of 12 Swars including Shuddha Vikruta, and imagination of definite set of vibrations from human vocal chord in the form of swar is a wonder and imagination of innumerable Ragas from 12 Swars is also a astonishing event.

Bharata Muni has classified similar swars in 9 Rasa in Natya Shastra. After his time, other experts have also approved that Rasa, Bhav and Saunadariya can be created by swar. This is proved after deep thinking and experimentation. According to Sangeet Shastra, Margiya and Deshi are two classes of sangeet. Margiya is for Mokshaprapti, while Deshi Sangeet depends upon country, time present situation. It is coupled with diverging methods. Only because Margiya Sangeet leads to Mokshadayak stage of life, it has a direct connection with eternity. Now we shall begin discussion on Basis of Sangeet in disease treatment system.

In present days, Sangeet wonderfully effects vegetation, birds, animal and listeners more and more. This is belief at large.

Sangeet Shastra, being a science, many experiments have been made and is still being done also. According to me, primarily rather firstly, the effect of Sangeet is seen on Man (mind) of person. If the person is quite physically normal, he feels Sangeet not only well and enjoyable but sees whole world beautiful and worth charishable. So, to get this charming mood, extreme love for music and life is necessary. When Sangeet is to be used as a tool in medical system it requires to know what type of disease is to be treated. Diseases are of two types-meaning mental and physical disorder and for both of it treatment is possible.

Present day, science, is well developed, Many new medical, surgical techniques, advanced equipments are used for treating patients. No doubt it is a blessing to mankind-that cannot be denied, present medical science found successful on physical as well mental

Dean & Head, Deptt. of Indian Classical Music (Vocal-Tabla), Faculty of Peerforming of Arts, M.S. Uni of Baroda, Opp. Sursagar Lake, Baroda-1

sides. We can boast for that much inventions forcefully. Before we decide to discuss on Basis of Sangeet on disease, what type of Sangeet will be effective on what type of disease. Hence it requires to be studied.

There are innumerable qualities of Sangeet, Singing and Instruments. It is not necessary to discuss on all the varieties of Sangeet but we shall discuss on only effects of Vishuddh Swar Pradhan Sangeet and special type of treatment by Sangeet on different types of diseases. Many new types of diseases have cropped up with latest inventions in medical science. It is a great problem to think on what Raga and Swar be useful for treatment of different disease. There is a great mass of people to have confidence on present day science. Quite often we hear that by use of special type of Raga and Tala on particular type of diseases. The patients becomes quite all right. Many believe this and some do not believe.

Sangeet has two classes-one with words and second is wordless. In class of no-word system instrument is considered. In both the classes internal Swar and Laya exists. Sangeet has world-wide effect and only due to this, Sangeet is established as worldwide language in people at large.

When Sangeet is being used for treatment it is difficult to predict that whether it will succeed or would fail. The effect of Vishuddh Swar reaches at high or low stage according to mental ailment and virtues by birth. This type of effect is worldwide effect of Sangeet. Sangeet is also measmerism when Swar on its fixed point is being sung or played with full Bhav, person of good health and diseased person Boht are thrilled, enchanted and sways away by force in Divya Anand of Sangeet. In Sangeet with words (vocal) the patient gets absorbed due to Rasa-Bhav arousing out from Swar & Words. In no-word (instrument) Sangeet, patient forgets his ailment due to his attilliation with Raga and Tala.

Attention requires on many things to get healthy and non-attilliated sacred life routine e.g. living style, thinking, virtues, disciplinary system and punctuality. Likeness-non-likeness etc.

In present days for treatment of many diseases Alap of Ragas or Alaps of instrument are used by experts. When best Divya Sangeet is played at that time, the blood circulation of patient, mental arousement gloominess and mental ailment become cool. Thus, Sangeet plays basically some co-operative part in the treatment of patient.

In America some hospital have engaged experts and also keep CDs of Sangeet for early betterment of patients. In Braham Varchas Shodh Sansthan in Haridwar which is run by Gayatri Parivar a number of experiments are carried out on different sorts of patients to make them healthy. Different types of Music therapy is given to patients of different kinds as per their diseases. Shri. Ram Sharma Acharyaji has given a great contribution by establishing this Sansthan which gives treatment to different patients. They have achieved a lot on ground of Sangeet-Treatment.

Thus we can say that Sangeet is definitely useful to get relief to them

who are suffering from diseases. Sangeet gives a sacred theory of treatment.

We have historical incident of Tansen who played Rag Deepak, There was none to help but Tana Riri helped by Rag Malhar. Other incidents is of Param Adariyan Sahajanand Swami who asked the Sangeetkar to sing Malhar in days of midsummer. He did it skillfully. Swamiji was astonished because Malhar cannot be sung in mid day of summer, but it was done and the effect of Raga was experienced. This is the ability of Sangeet.

There are the charms enchantment and ability of Sangeet who has power to work on people and atmoshpere for relief and also for amusement, enjoyment and cooling mind-Sangeet is gift of God.

संपादक
भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)
दरभंगा।

प्रिय महोदय,
भैरवी के एक वर्ष (2 अंक) ...../-रूपए/तीन वर्ष (6 अंक) ...../-रूपए/पाँच वर्ष (10 अंक) ...../-रूपए/आजीवन ...../-रूपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष/आजीवन के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

(हाँ, अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रूपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दें यानि चेक हमें 240/- रूपए का भेजें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....

चेक/ड्राफ्ट **संपादक, भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका),** दरभंगा के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें :

प्रधान सम्पादक
डॉ0 पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अंक आप भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका) के नाम मनीआर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर वी.पी.पी. से।

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड